क्या बुद्ध नास्तिक थे ?

आचार्य सत्यनारायण गोयन्का

क्या बुद्ध नास्तिक थे?

आचार्य श्री सत्यनारायण गोयन्का

क्या बुद्ध नास्तिक थे?

विषय-सूची

विपश्यना बनाम आस्तिकता १
नास्तिकता का भय ६
गीता की ऐतिहासिकता १०
विपश्यना का व्यावहारिक और गीता का सैद्धांतिक पक्ष १२
बुद्धवाणी का अध्ययन १६
बुद्ध को नास्तिक नहीं कहा गया १६
अंबष्ठ ब्राह्मण १७
सुंदरिक भारद्वाज १७
अग्गिक भारद्वाज १८
मागंडिय १८
संगारव माणव १९
ब्राह्मणी धनंजानी का पति २०
कौन थे नास्तिक? २३
अजित केसकंबल का मत २४
पूर्ण काश्यप का मत २७
पकुध कात्यायन का मत २९
मक्खलि गोसाल का मत ३१
नास्तिकवादी आचार्यों के शिष्य ३४
राजा पायासि ३४
नास्तिकवादी वस्स और भञ्ञ ३४
अनिश्चयवादी संजय वेलट्ठपुत्त का मत ३५
आस्तिकवादी निगंठ नाटपुत्त (महावीर स्वामी) का मत ३६
पाप-पुण्य ३६
महावीर स्वामी के शिष्य ३६
सिंह सेनापति ३७
श्रेष्ठि उपालि ३८
अभय राजकुमार ३९
उच्छेदवादी ४०
बुद्धपूर्वकाल का नास्तिकवाद ४१

वैदिक काल ४१
प्रमदक ४१
अनेक दार्शनिक ४१
श्रमण काल ४१
राजा ब्रह्मदत्तकालीन एक नास्तिक आचार्य ४१
आजीवक काश्यप ४२
भगवान बुद्ध द्वारा आस्तिकवादी सद्धर्म की स्थापना **४५**
नास्तिकवाद का विरोध **४७**
दान, शील और परलोक ४७
स्वच्छंद कामाचार का विरोध ४८
दो अतियों को छोड़ कर आर्य मध्यम मार्ग ४९
आस्तिकवादी मध्यम मार्ग **५१**
बुद्ध की प्रयोगात्मक विपश्यना विद्या **५५**
लोक और परलोक की मान्यता **६१**
कर्मानुकूल फल की मान्यता ६२
अन्य मिथ्या मान्यताओं का उन्मूलन ६३
विपश्यना का सक्रिय अभ्यास **६६**
भगवान बुद्ध का यथार्थवाद **७०**
भगवान मौन रहे ७१
भगवान बुद्ध यथार्थतः अनात्मवादी थे, निरीश्वरवादी थे ७२
अनात्मवादी बुद्ध ७४
पुनर्जन्म के नैसर्गिक नियम ७५
अनीश्वरवादी बुद्ध ७७
क्या ईश्वर पापी है? ७९
महाब्रह्मा ईश्वर बना ८०
बक ब्रह्मा ८१
महाब्रह्मा अनभिज्ञ ८२
कौन है संसार का निर्माता? ८४
मनुष्य स्वयं ही ईश्वर है **८६**
अनुभव पर आधारित यथाभूत सत्य **८९**
कर्मसंस्कारों का सृजन और भंजन ९०
भवमुक्ति कैसे होती है? ९२
कम्मविपाको अचिन्तेय्यो ९६
नास्तिक की परिभाषा का क्रमिक विकास **१००**

यास्क की व्याख्या ······ १००
नचिकेता ······ १०१
पुरातन श्रमणकालीन व्याख्या ······ १०१
बुद्धकालीन व्याख्या ······ १०१
पाणिनि की व्याख्या ······ १०२
पतंजलि की व्याख्या ······ १०२
काशिका की व्याख्या ······ १०२
प्रदीप टीका की व्याख्या ······ १०३
शिशुपालवध की व्याख्या ······ १०३
अमरकोश की व्याख्या ······ १०४
नास्तिको वेदनिन्दकः ······ १०७
वेदों में अहिंसा ······ ११०
महाभारत ने हिंसक यज्ञ को अस्वीकार्य किया ······ ११६
भगवान बुद्ध द्वारा हिंसक यज्ञों का निराकरण ······ १२२
कूटदंत ब्राह्मण ······ १२२
उद्गतशरीर ब्राह्मण ······ १२६
महाराज प्रसेनजित ······ १२६
सभी यज्ञ प्रशंसनीय नहीं हैं ······ १२७
वैदिक परंपरा में हिंसक यज्ञ की निंदा ······ १३०
वैदिक परंपरा के अन्य ग्रंथों में वेदों की भी निंदा ······ १३३
वेद प्रमाण न स्वीकारने के कारण नास्तिक ······ १३५
आत्मा और परमात्मा को नकारने के कारण नास्तिक ······ १३६
चातुर्वर्णी व्यवस्था ······ १३८
उत्कृष्ट आदर्श, निकृष्ट व्यवहार ······ १४४
शूद्रों की दुर्दशा ······ १४६
बुद्धवाणी के अनुसार चातुर्वर्णी व्यवस्था का उद्गम ······ १५७
क्षत्रिय का उद्गम १५७
ब्राह्मण का उद्गम १५७
वैश्य का उद्गम १५८
शूद्र का उद्गम १५८
गुण, कर्म, स्वभाव पर आधारित वर्ण-व्यवस्था १५८
अधःपतन १५९
धर्म की पुनर्स्थापना ······ १६०
हर व्यक्ति ब्राह्मण बन सकता है ······ १६२

ब्राह्मण १६२
ब्रह्मा के औरस पुत्र १६३
पड़ोसी देशों में केवल दो ही वर्ण १६३
अंगुलिमाल १६४
अंगणिक भारद्वाज १६५
अन्य वर्ण के लोग भी ब्राह्मण बने १६६
नारियां भी ब्राह्मण बनीं १६६
आर्य-अनार्य **१६८**
आर्य शब्द दूषित हुआ १७३
हर व्यक्ति आर्य बन सकता है **१७४**
दो पुरातन संस्कृतियों का पारस्परिक आदान-प्रदान **१७७**
वैदिक परंपरा प्रभावित हुई **१७८**
राजपुरोहित असित देवल १८१
ब्राह्मण ज्योतिषी १८२
अन्य प्रमुख ब्राह्मण १८३
वैदिक परंपरा पर विपश्यना का प्रभाव **१८४**
भगवद्गीता पर – १८४
बुद्धवाणी और भगवद्गीता – अरहंत और स्थितप्रज्ञ १८४
पातंजल योगसूत्र पर – १८७
‘अविद्या’: ‘प्रज्ञा’ के विपरीत स्थिति – १८९
चार उन्नत अवस्थाएं – १८९
योग के चार अंग – १९०
‘संतोष’ : परम सुख का अपूर्व स्रोत १९०
बुद्ध परंपरा प्रभावित हुई **१९१**
महाभिषक भगवान बुद्ध **१९५**
प्रेस विज्ञप्ति **२०१**
विपश्यनाः संक्षिप्त परिचय **२०३**
विपश्यना २०४
विपश्यना साहित्य २०५
विपश्यना केंद्र २१०

संकेत सूची

अ०नि० = अङ्गुत्तरनिकाय

अथर्व० = अथर्ववेद

अभिधान० = अभिधानचिन्तामणि

अमर० = अमरकोश

अष्टा० = अष्टाध्यायी

ऋ० = ऋग्वेद

खुद्दक० = खुद्दकपाठ

गीत० = गीत-गोविंद

गीता = श्रीमद्भगवद्गीता

जा० = जातक

थेरगा० = थेरगाथा

दी०नि० = दीघनिकाय

ध०प० = धम्मपद

धम्मवं० = धम्म वंदना

नि० = निरुक्त

पटि०स० = पटिसम्भिदामग्ग

पद्म० = पद्मपुराण

पराश० = पराशर-स्मृति

ब्रजमा० = ब्रजमाधुरी सार

बा०सू० = बार्हस्पत्यसूत्र

भागवत० = श्रीमद्भागवत-पुराण

म०नि० = मज्झिमनिकाय

मनु० = मनुस्मृति

महा० = महाभारत

महानि० = महानिद्देस

मुण्डक० = मुण्डकोपनिषद

यजु० = यजुर्वेद

योग० = योगसूत्र

रामचरित० = रामचरितमानस

विनय० = विनयपिटक

विभ० = विभङ्ग

विसुद्धि० = विसुद्धिमग्ग

संत० = संतसुधा सार

सं०नि० = संयुत्तनिकाय

संज्ञा० = संज्ञाप्रधान सूत्र

सर्व० = सर्वदर्शनसंग्रह

सांख्य० = सांख्ययोग

सु०नि० = सुत्तनिपात

हलायुध० = हलायुध कोश

प्राक्कथन

मोटे रूप में 'आस्तिक' व्यक्ति वह होता है जो अस्तित्व को स्वीकार करे और 'नास्तिक' वह जो अस्तित्व को स्वीकार न करे। अब प्रश्न यही रहता है कि 'किसके' अस्तित्व की चर्चा है? पुस्तक के पर्यालोचन से स्पष्ट होगा कि वैदिक काल से लेकर अर्वाचीन काल तक इसी बिंदु को लेकर भिन्न-भिन्न प्रकार की अवस्थाएं पनपती रही हैं। इनमें से कुछ निम्न प्रकार से हैं: –

आत्मा, परमात्मा, कर्म-सिद्धांत के कारण पुनर्जन्म, परलोक, वेदों की प्रामाणिकता, यज्ञ का फल, इत्यादि।

छठी शताब्दी में 'अमरकोश' के प्रसिद्ध ग्रंथकार ने मिथ्यादृष्टि वाले को नास्तिक कहा है (*'मिथ्यादृष्टिकनास्तिकः'*)। भगवान बुद्ध ने अपने काल में प्रचलित बासठ प्रकार की मिथ्यादृष्टियों का उल्लेख किया है। (देखिए – *'दीघनिकाय- ब्रह्मजालसुत्त'*)।

अब नासमझी के कारण, अथवा द्वेषवश भी, किन्हीं को 'नास्तिक' कहने की प्रथा चल पड़ी। इसके ज्वलंत उदाहरण भगवान बुद्ध स्वयं हैं। कितने आश्चर्य की बात है कि जो बासठ प्रकार की मिथ्यादृष्टियों का दिग्दर्शन करा रहे थे, उन्हें स्वयं को 'नास्तिक' कह कर मिथ्यादृष्टिक बतलाया जा रहा है। इस मिथ्या लांछन का निराकरण इस पुस्तक के पर्यालोचन से हो जाता है।

इसे पढ़ कर पाठक स्वयं विचार करें कि 'नास्तिक' वस्तुतः किसे कहेंगे? और उस कथन का समाज पर क्या प्रभाव पड़ता है?

प्रकाशन मंडल,
विपश्यना विशोधन विन्यास,
धम्मगिरि, इगतपुरी.

विपश्यना बनाम आस्तिकता

विपश्यना बनाम आस्तिकता

परम उपकारी मित्र ऊ छान ठुन के प्रबल आग्रह के कारण और परम पूज्य गुरुदेव सयाजी ऊ बा खिन द्वारा विपश्यना साधना की रूपरेखा भलीभांति समझा दिये जाने के कारण मैंने भारत की इस पुरातन विद्या को स्वयं आजमा कर देखने का निर्णय किया।

शील, समाधि, प्रज्ञा की इस दस-दिवसीय साधना में कहीं दोष का नामोनिशान नहीं देखा। भगवान बुद्ध के शुद्ध धर्म की संपूर्ण शिक्षा ग्रहण करने में मुझे कोई कठिनाई नहीं हुई। बल्कि इसे प्राप्त कर मैं अपने जीवन की धन्यता अनुभव करने लगा। नित्य-नियमित विपश्यना का अभ्यास चलता रहा और दिनोंदिन इसके अच्छे परिणामों का लाभ भी मिलता रहा।

फिर भी पुरानी मान्यता के कारण कभी-कभी मानस के किसी कोने में कोई कांटा चुभ ही जाता था कि मैं कहीं नास्तिक तो नहीं बन रहा। जब आत्मा और परमात्मा के अस्तित्व पर से विश्वास उठ जायगा तब नास्तिक होकर कहीं अपना अनर्थ तो नहीं कर बैठूंगा? बचपन से यही सुनता और मानता आया था कि जो नास्तिक हो जाता है, आत्मा और परमात्मा के अस्तित्व को नकारता है, वह अधार्मिक हो जाता है। कैसा ही ज्ञानी क्यों न हो जाय, अंततः उसका अध:पतन ही होता है।

गोरखपुर की गीताप्रेस से पूर्णतया प्रभावित परिवार में मैं जन्मा और पला। अतः बचपन से ही सगुण साकार ईश्वर की द्रवीभूत भक्ति से मन उर्मिल हो उठा करता था। नितांत श्रद्धाजन्य आस्तिक भाव से जगत्पिता परमात्मा की शरण ग्रहण कर, नित्यप्रति उनसे सदाचरण की भीख मांगने से मन बड़ा आश्वस्त होता था। लगता था कि मेरे प्रभु मुझे सदाचारी अवश्य बनायेंगे। मन में भी किंचित दुराचरण का भाव जागता तो इससे अपने आप को पतित मानता था। मन में दुराचरण के भाव तो जागते ही थे। अतः कविता रचने में मैंने अपना उपनाम "पतित" रखा था।

प्राथमिक शिक्षा के दिनों पाठशाला में प्रतिदिन जो सामूहिक प्रार्थना करायी जाती थी, उसका मन पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा था और मैं इसे लगभग नित्य दोहराया करता था।

लीजिए मुझको शरण में, मैं सदाचारी बनूं।
ब्रह्मचारी, धर्मरक्षक, वीरव्रतधारी बनूं॥

यह आदर्श, जीवन का एक महत्त्वपूर्ण लक्ष्य बन गया था। अतः जब-जब मन में विकार जागता, तब-तब मैं व्याकुल होता। मुझे लगता कि मैं अपने जीवन के आदर्श से दूर होता जा रहा हूं। किशोर अवस्था से युवावस्था तक जब कभी काम, क्रोध या अहंकार का दानव सिर पर सवार होता तब दूसरे दिन की प्रातःकालीन प्रार्थना में बार-बार यह भजन गाता और मन का बोझ हल्का करता।

तू दयालु दीन हौं, तू दानी हौं भिखारी।
हौं प्रसिद्ध पातकी, तू पापपुंजहारी॥

नाथ तू अनाथन को, अनाथ कौन मो सो?
मो समान आर्त नहीं, आर्तहर तो सो॥

बहुत विह्वल होकर इस अंतिम पंक्ति को बार-बार दोहराता–

मो समान आर्त नहीं, आर्तहर तो सो।
मो समान आर्त नहीं, आर्तहर तो सो॥

और फिर कभी तुलसीदासजी के इस पद को दोहराता–

मो सम कौन कुटिल खल कामी?
पापी कौन बड़ो है मो ते, सब पतितन में नामी।
मैं सब पतितन में नामी॥

और कभी आर्द्र वाणी में अपने प्रभु को पुकारते हुए कहता–

जो हम भले बुरे सो तेरे।

और फिर कभी देर तक कातर कंठ से यह गीत गाता–

नाथ मैं थारो जी थारो।
चोखो बुरो कुटिल अरु कामी, जो कुछ हूं सो थारो॥

बिगड़्यो हूं तो थारो बिगड़्यो, थे ही मनै सुधारो।
बुरो बुरो मैं बहुत बुरो हूं, आखिर टाबर थारो॥

थारो हूं, थारो ही बाजूं, रहस्यूं थारो थारो।
आंगलियां नूं परै न होवै, आ तो आप बिचारो॥
नाथ मैं थारो जी थारो।

कभी गाता हुआ अपने प्रभु से क्षमा की भीख मांगता –

अवगुण मेरा बापजी, बख्शो दीननवाज।
जो मैं पूत कपूत हूं, तो थानै ही लाज॥

और कभी बहुत भावुक होकर, अश्रुमुख हो, रुदन करता –

अब मैं नाच्यो बहुत गोपाल।
काम क्रोध को पहन चोलनो, गल बिसयन की माल।
महामोह के नूपुर बाजत, निंदा शब्द रसाल॥

और फिर कभी विह्वल होकर गिड़गिड़ाता –

प्रभुजी मेरे अवगुण चित न धरो।
समदरसी है नाम तिहारो, मुझ पर कृपा करो॥

इक नदिया इक नार कहावत, मैलो नीर भर्यो।
जब दोनों मिल एक बरण भइ, सुरसरि नाम पड़्यो॥

इक लोहो पूजा में राखत, इक घर बधिक पड़्यो।
पारस गुण अवगुण नहिं चितवत, कंचन करत खरो॥

प्रभुजी मेरे अवगुण चित न धरो।

कभी-कभी देर तक इस प्रार्थना को दोहराते रहता –

मुझ पर कृपा करो भगवान!
मेरे पाप हरो भगवान!!

मेरे दोष हरो भगवान!
मुझ पर कृपा करो भगवान!!

और इसी प्रकार न जाने कितने भजन नित्य गाया करता। सारे भजनों का एक ही सार कि–

मैं पतितन को सिरमौर।

मैं आप जैसे पतितपावन के चरणों में पड़ा हूं। मेरा उद्धार करें! मेरा उद्धार करें!! मेरा उद्धार करें!!!

बचपन से लेकर इकत्तीस वर्ष की युवावस्था तक इस भक्तिसागर में नित्य डुबकियां लगाता रहा। इससे आर्द्र हुआ मन पिघल जाने के कारण थोड़ी देर शांति मिलती। भीतर शीतलता महसूस होती। लेकिन संसारी काम-काज में लग जाने के बाद कुछ ही समय में फिर वैसा-का-वैसा हो जाता। वैसे ही विकारों के राक्षस सिर पर सवार होने लगते। दूसरे दिन अपने विकारों को याद कर पुनः ईश्वर से क्षमा मांगता। इन विकारों से मुक्त करने के लिए प्रार्थना करता। यह क्रम बरसों चलता रहा। देखा, विकार कम होने के स्थान पर दिन-पर-दिन बढ़ते ही गये। यद्यपि बहुत सजग रहता था कि जब मैं बाहरी समाज के संपर्क में रहूं तब मेरे भीतर जागा हुआ क्रोध वाणी पर प्रगट न हो जाय। मुस्कराहट का मुखौटा लगाये रखने के लिए सचेष्ट रहता। लेकिन जब कभी किसी कारण अहंकार को गहरी चोट लगती, कोई अनचाही हो जाती, अथवा कोई मनचाही नहीं होती, तब इतना व्याकुल हो उठता कि घर लौटने पर, कारण-अकारण क्रोध की ज्वाला घरवालों पर बरसाता। विशेषकर बच्चों को बेरहमी से पीटता और फिर पश्चात्ताप करता। "मुझे ऐसा नहीं करना चाहिए था।" दूसरे दिन प्रातःकाल की भक्ति-भावना में पुनः विह्वल होता। अश्रुमुख होता। रो-रो कर विकार-विमुक्ति की याचना करता। लेकिन देखता कि इसका कोई स्थाई लाभ कभी प्राप्त नहीं हुआ। अंतर्मन के स्वभाव में कोई बदलाव नहीं आया।

विपश्यना के अभ्यास से यह बदलाव आना आरंभ हुआ। दस दिन का शिविर और उसके बाद नित्य सुबह शाम एक-एक घंटे की साधना करता और कुछ देर मंगल-मैत्री का अभ्यास करता; तब प्रत्यक्ष लाभ दिखने लगे।

तब यह सच्चाई भी समझ में आने लगी कि अपने मानस में विकार जगाने की नासमझी मेरी है। अतः इसे दूर करने का प्रयत्न भी मुझे ही करना होगा। यह मेरी जिम्मेदारी है। किसी अदृश्य देव के भरोसे थोड़ी देर की राहत भले मिल जाय, परंतु जड़ों से विकारों का निष्कासन नहीं हो सकता। यह काम विपश्यना ही कर सकती है। और विपश्यना अपना काम करने भी लगी।

इतना लाभ होने पर भी बचपन से जिस परमपिता परमात्मा के प्रति इतना गहरा भक्तिभाव का संबंध रहा उसे सहसा त्यागने के लिए मानस तैयार नहीं हुआ। मुझे याद आता है कि चौदह वर्ष की किशोर अवस्था में जब मैं सौभाग्य से आर्य समाज के संपर्क में आया तब महर्षि दयानंदजी सरस्वती की विचारधारा ने मेरे मानस पर गहरा प्रभाव डाला। धार्मिक क्षेत्र में अंधविश्वासों का विरोध और सामाजिक क्षेत्र में कुरीतियों को दूर करने का अभियान मुझे बहुत प्रिय लगा। मैं निष्ठापूर्वक आर्य समाज से जुड़ गया। परंतु सगुण साकार की द्रवीभूत भक्ति को छोड़ कर निर्गुण निराकार की शुष्क ईश्वर भक्ति को कभी स्वीकार न कर सका। ठीक वैसे ही अब निरीश्वरवादी विपश्यना का प्रत्यक्ष लाभ देखते हुए भी सगुण साकार की आर्द्र भक्ति का आकर्षण नहीं छूट सका। विशेषतः अपने आप को नास्तिक होने से बचाये रखने का प्रयत्न कायम रहा।

अपनी नासमझी के कारण उन दिनों कभी-कभी सोचा करता कि भगवान बुद्ध ने इतना शुद्ध व्यावहारिक धर्म सिखा कर उसके साथ आस्तिकता क्यों नहीं जोड़ दी? आस्तिकता भी जोड़ देते तो उनकी कल्याणी शिक्षा ग्रहण करने में किसी को जरा-भी झिझक नहीं होती।

नास्तिकता का भय

विपश्यना के संपर्क में आने के पूर्व तक बुद्ध की शिक्षा के प्रति जो भ्रांतियां थीं, उनमें से अनेक विपश्यना के अभ्यास के कारण और तत्पश्चात बुद्धवाणी पढ़ते-पढ़ते स्वतः क्षीण होती गयीं; विलीन होती गयीं। इन भ्रांतियों में एक प्रमुख भ्रांति यह थी कि बुद्ध नास्तिक थे। इसलिए विपश्यना में सम्मिलित होते हुए एक भय यह भी था कि उनकी शिक्षा से प्रभावित होकर कहीं जाने-अनजाने मैं भी नास्तिक न बन जाऊं।

मैं उनकी बतायी हुई विपश्यना विद्या को स्वयं अनुभव द्वारा जांच लेने के भाव से ही शिविर में सम्मिलित हुआ था। परंतु नास्तिकता का भय मन में गहराई से समाया हुआ था। अतः इससे बचने के लिए मुझे सतत सतर्क और सजग रहना आवश्यक था। उन दिनों मेरी यही दृढ़ मान्यता थी, जैसी कि अन्य अनेक लोगों की थी और आज भी है, कि नास्तिक वही है जो आत्मा और परमात्मा के अस्तित्व को नहीं स्वीकारता। जो व्यक्ति आत्मा और परमात्मा की इतनी स्पष्ट सच्चाई को ही नहीं स्वीकारता, वह धार्मिक कैसे हो सकता है? वह तो अधार्मिक ही होगा। मैं अधार्मिक बन जाने के लिए कदापि तैयार नहीं था।

उन दिनों आत्मा और परमात्मा के अस्तित्व को नहीं स्वीकारना मुझे बहुत बेहूदापन और तर्क-असंगत लगता था। मैं नास्तिकों की मान्यता पर व्यंग कसा करता था। कहा करता था कि जब आत्मा के अस्तित्व को ही नहीं स्वीकारते, तब यह बार-बार पुनर्जन्म किसका होता है? जब किसी ईश्वर का ही अस्तित्व नहीं है तो इस विस्मयजनक विशाल विश्व का सृजन किसने किया भला?

प्रातःकाल भक्ति भावावेश में जो अनेक भजन गाया करता था, उनमें से एक की यह पंक्ति अब भी याद है–

सूरज व चांद घूमते किसके आधार हैं?

विद्यार्थी जीवन में ही आधुनिक शिक्षा के संपर्क में आने पर यह विदित हुआ कि सूरज तो घूमता ही नहीं। चांद और पृथ्वी घूमते हैं। वे भी किसी विशिष्ट विश्वव्यापी गुरुत्वाकर्षण शक्ति के सहारे घूमते हैं। इससे उपरोक्त पंक्ति का महत्त्व जरा कम हुआ, लेकिन फिर भी यह प्रश्न मन में बार-बार उठता ही था कि आखिर इस गुरुत्वाकर्षण शक्ति का भी किसी ने सृजन किया होगा। जिसने किया वही ईश्वर है। उन दिनों के भक्ति-भावावेश में गोस्वामी तुलसीदासजी का यह भजन भी गाया करता था।

मो सम कौन कुटिल खल कामी?
जो तन दियो ताहि बिसरायो, कैसो नमकहरामी?

जिस ईश्वर ने हमें यह अनमोल मानव शरीर दिया, उसे भूल जाना और उसके उपकार को विस्मृत कर देना कितनी गर्हित कृतघ्नता है। और फिर नास्तिक बन कर उसके अस्तित्व तक को अस्वीकार कर देने जैसी दूषित कृतघ्नता की तो कोई सीमा नहीं।

बचपन से ही किशोर और युवावस्था तक आर्द्र हृदय से, कातर कंठ से, सजल नेत्रों से, नित्य प्रातःकाल ईश्वर की भक्ति में निरत रहने वाला मेरा मानस, बुद्ध के नास्तिकवाद को कैसे स्वीकार करता भला? मेरा यह दृढ़ विश्वास था कि जो आस्तिक है वह धार्मिक है; जो नास्तिक है वह अधार्मिक है, कुटिल है, खल है, कामी है।

लेकिन दस दिनों के पहले शिविर में ही यह सच्चाई खूब समझ में आयी कि यद्यपि बुद्ध की शिक्षा में ईश्वर का कहीं कोई आधार नहीं है, सहारा नहीं है, तथापि यह शिक्षा ग्रहण करने वाला व्यक्ति न कुटिल बनता है, न खल बनता है, न कामी बनता है, बल्कि सदाचारी बनता है, संयतचित्त बनता है तथा निर्मलचित्त होकर मैत्री और करुणा की सद्भावनाओं से भावविभोर रहता है। तब यह देख कर मन दुविधा में पड़ा कि जिस शिक्षा में ईश्वर को कहीं कोई स्थान नहीं, फिर भी यह इतनी शुद्ध है, पावन है तब उसे महज इसलिए कैसे दुत्कारा जाय कि यह ईश्वर पर आधारित नहीं है।

कुछ दिनों तक मन में यह चिंतन चलता रहा कि सचमुच भगवान बुद्ध ने हमें स्वावलंबी बनाया। हमें – **'अपनी मुक्ति अपने हाथ, अपना परिश्रम अपना पुरुषार्थ'** की सक्रिय शिक्षा देकर परावलंबन से मुक्त किया। यह सच है, तब भी ईश्वर और आत्मा की विद्यमानता को स्वीकार करने में क्यों झिझक है? उन्हें भी साथ-साथ क्यों न स्वीकार करते चलें? किंतु यह ऊहापोह बहुत समय तक नहीं चला। कुछ दिनों बाद एक दिन साधना करते हुए समाधान की एक किरण फूटी।

यदि सचमुच मेरे भीतर कोई अगल-थलग नित्य, शाश्वत, ध्रुव आत्मा है, और मैं शील, समाधि, प्रज्ञा के अभ्यास द्वारा अपने मनोविकारों के बंधनों से मुक्त होता जा रहा हूं, चित्त निर्मल होता जा रहा है, तब इस आत्मा का कल्याण ही होगा। भवभ्रमण की भटकन से इसे छुटकारा ही मिलेगा, मुक्ति ही मिलेगी। मैं इसके अस्तित्व को स्वीकारूं या न स्वीकारूं। यदि इसका अस्तित्व है तो मैं जो साधना कर रहा हूं उससे इसका अमंगल कैसे होगा? जब इसका अमंगल नहीं होगा तब मेरा अमंगल कैसे होगा? अतः मन आश्वस्त हुआ कि यदि भीतर कोई आत्मा है तब इस साधना द्वारा उसका कल्याण ही होगा, और यदि नहीं है तब व्यर्थ सिर पर उसका काल्पनिक बोझ क्यों उठाये फिरूं?

इसी प्रकार यदि इस संसार को रचने वाला सचमुच कोई परमपिता परमात्मा है, और उसी ने संसार के नैसर्गिक नैतिक नियमों का भी निर्माण किया है, तब वह यह देख कर संतुष्ट-प्रसन्न ही होगा कि मैं उसके बनाये हुए नैतिक नियमों के अनुसार अपने जीवन को ढाल रहा हूं। कोई भी नियामक अपने बनाये हुए नियमों का पालन होते देख कर प्रसन्न ही होता है। किसी को अपने बनाये हुए विधान का जीवन जीते देख कर कोई भी विधायक संतुष्ट ही होता है। मैं इस साधना द्वारा निसर्ग के नियमों का पालन करने का ही अभ्यास कर रहा हूं। इससे यदि कोई परमपिता परमात्मा है तब वह अप्रसन्न क्यों होगा भला? यदि ऐसा कोई परमात्मा नहीं है तो मैं व्यर्थ अपने सिर पर उसके काल्पनिक बोझ को क्यों उठाये फिरूं?

अतएव आत्मा है तो भी, नहीं है तो भी; परमात्मा है तो भी, नहीं है तो भी; मैंने जो मार्ग अपनाया है वह शुद्ध धर्म का मार्ग है। इस पर चलते हुए

न अपना बुरा होगा न किसी अन्य का। इस आश्वासनभरे चिंतन के बल पर मैं साधना में लगा रहा और दिनोंदिन अधिकाधिक लाभान्वित होता रहा।

एक अन्य समाधान यह हुआ कि जो नास्तिक हो जाता है वह अधार्मिक हो जाता है, यह मान्यता बेबुनियाद लगने लगी। कितने ही लोग आत्मा और परमात्मा के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं फिर भी नितांत अधार्मिक हैं और कितने इसे नहीं स्वीकारते फिर भी पूर्ण धार्मिक हैं। अतः आत्मा और परमात्मा के अस्तित्व को न मानने वाले नास्तिक व्यक्ति के अधार्मिक होने की मान्यता निराधार लगने लगी।

नित्य-नियमित विपश्यना साधना करते हुए जैसे-जैसे इस विद्या में पुष्ट होता गया वैसे-वैसे यह सत्य स्पष्ट होता गया कि इस साधना के पूर्व मेरे भीतर काम, क्रोध और अहंकार का जो प्रबल प्रकोप था, आवेग था, आधिपत्य था, वह शिथिल होता जा रहा है। मैं इन विकारों से शनैः शनैः मुक्त होता जा रहा हूं। यही धार्मिकता है और यही मेरे जीवन का आध्यात्मिक लक्ष्य रहा है।

गीता में भी कहा गया है --

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति॥

-- *(गीता २.७१)*

– जो पुरुष संपूर्ण कामनाओं (वासनाओं) को त्यागकर, ममतारहित, स्पृहारहित और अहंकाररहित हुआ बर्ताव करता है, (वही) शांति प्राप्त करता है।

विपश्यना साधना के व्यावहारिक अभ्यास द्वारा इस उद्देश्य की पूर्ति होती जा रही है तब **'नास्तिकता'** के भय से वृथा ही क्यों संतप्त रहूं?

गीता की ऐतिहासिकता

विपश्यनापूर्व के मेरे जीवन की एक महत्त्वपूर्ण घटना–

उन दिनों रंगून में हिंदू त्यौहारों पर अक्सर मेरे प्रवचन होते थे। एक अवसर पर रंगून की रामकृष्ण मिशन सोसाइटी के स्वामी सूर्यानंदजी ने मेरे प्रवचन का आयोजन किया। विषय था– "हिंदू धर्म का सार।"

मेरे प्रवचन हिंदी भाषा में होने के कारण सभी श्रोता हिंदी-भाषी होते थे। पर उस दिन मुझे यह देख कर आश्चर्य हुआ कि श्रोताओं की पहली पंक्ति में मेरे तीन-चार बरमी मित्र बैठे थे, जो कि बरमी समाज के वरिष्ठ विद्वान नेता थे। मैं चिंतित था क्योंकि हिंदी नहीं समझने के कारण वे प्रवचन का क्या लाभ प्राप्त कर सकेंगे? सदा की भांति मैंने हिंदी में ही प्रवचन दिया। प्रवचन पूरा करके जब मंच से नीचे उतरा तब सयाजी ऊ बा ल्विन ने मुझे उलाहना देते हुए कहा– "गोयन्का, तुमने हमें धोखा दिया। तुम्हें हिंदी में ही बोलना था तो अंग्रेजी दैनिक पत्र में प्रवचन की सूचना क्यों दी?" मुझे इस बात का पता तक नहीं था कि स्वामीजी ने इस प्रवचन की सूचना अंग्रेजी के दैनिक समाचारपत्र में दी थी। पता होता तब भी मैं प्रवचन हिंदी में ही देता, क्योंकि उन दिनों अंग्रेजी में धाराप्रवाह प्रवचन देने का मुझमें सामर्थ्य नहीं था। मैंने अपने मित्रों से क्षमा मांगी और उन्हें घर चलने के लिए आमंत्रित किया और कहा कि भोजन भी साथ-साथ करेंगे और मैंने प्रवचन में जो कुछ कहा, उसका सारांश भी अंग्रेजी में समझा दूंगा।

घर पर भोजन के पश्चात मैंने बताया कि अपने प्रवचन में मैंने यही कहा था कि हिंदू धर्म का सार वेदों में हैं। वेदों का सार उपनिषदों में है। उपनिषदों का सार गीता में है और गीता का सार स्थितप्रज्ञता की व्याख्या में है। तत्पश्चात मैंने स्थितप्रज्ञ के गुण बताये। इस पर मित्र ऊ ता म्या ने कहा कि ये सारे गुण तो भगवान बुद्ध ने अरहंत में बताये हैं। यह सुन कर अपने अज्ञान का प्रदर्शन करते हुए मैंने कह दिया– आखिरकार भगवान बुद्ध ने

जो कुछ सिखाया वह हमारी गीता से ही लिया गया था। इस पर ऊ ता म्या ने कहा कि स्थितप्रज्ञता के वर्णन में गीता ने वस्तुतः भगवान बुद्ध की ही वाणी दोहरायी है। भगवान के कई सदियों पश्चात गीता की रचना हुई थी। यह सुन कर मुझे गहरी चोट लगी। मैंने कहा कि गीता पांच हजार वर्ष पूर्व हुए महाभारत के युद्ध में दी गयी भगवान कृष्ण की शिक्षा है। बुद्ध अढ़ाई हजार वर्ष बाद हुए। ऊ ता म्या ने मुस्करा कर कहा कि तुम सच्चाई से अनभिज्ञ हो। घर आये मेहमान से और वह भी बरमा के शीर्षस्थ विद्वान से इस विषय पर विवाद करना मैंने उचित नहीं समझा। ऊ ता म्या ने भी देखा कि उसके कथन से मुझे पीड़ा पहुँची है। मेरा चेहरा तमतमाया देख कर उसने समझदारी के साथ वार्तालाप का विषय बदल दिया। कुछ देर बाद गोष्ठी समाप्त हुई। सभी अतिथि अपने-अपने घर चले गये।

कुछ दिनों बाद घर पर 'बर्मा हिंदी साहित्य सम्मेलन' की कार्यकारिणी की बैठक हुई। उसमें बरमी साहित्य से संबंधित किसी विषय पर परामर्श करने के लिए मित्र ऊ ता म्या को भी बुला रखा था। संयोग से आदरणीय भदंत आनंद कौसल्यायनजी भी बरमा आये हुए थे और सदा की भांति घर पर ही ठहरे हुए थे। वे भी उस बैठक में सम्मिलित हो गये। बैठक शुरू होते-होते ऊ ता म्या ने पुनः गीता और बुद्धवाणी की चर्चा छेड़ दी और इस विषय में आनंदजी के विचार जानने चाहे। आनंदजी ने मित्र ऊ ता म्या का पुरजोर समर्थन किया। मेरे हिंदुत्व को फिर गहरी चोट लगी और मैं तिलमिलाया। तब आनंदजी ने कहा कि भविष्य में जब कभी तुम निष्पक्षभाव से बुद्धवाणी पढ़ोगे और अपने हिंदू शास्त्रों का भी निष्पक्षभाव से अध्ययन करोगे तभी तुम्हें ज्ञात होगा कि गीता ही नहीं, बहुत पुरातन माने जाने वाले अनेक हिंदू ग्रंथ बुद्ध के बाद लिखे गये हैं और उन पर बुद्ध की शिक्षा का गहरा प्रभाव है। मुझे इस कथन से पुनः गहरी चोट लगी थी। कहां पांच हजार वर्ष पूर्व महाभारत के युद्ध में दिया गया गीता का उपदेश और कहां पच्चीस सौ वर्ष पश्चात दी गयी बुद्ध की शिक्षा? परंतु बहस में पड़ना उचित न समझ कर मैं मौन रह गया। लेकिन इन बौद्धों के हृदय में हिंदू-विरोधी सांप्रदायिक भाव कितने गहरे हैं! इस पूर्वाग्रहपूर्ण चिंतन का एक कांटा मेरे मन में चुभा रह गया।

विपश्यना का व्यावहारिक और गीता का सैद्धांतिक पक्ष

जिस समय विपश्यना के शिविर में सम्मिलित हुआ उस समय उपरोक्त घटना का मन पर कोई विशेष प्रभाव नहीं था। उस समय मुझे भगवान बुद्ध की सिखायी हुई विपश्यना विद्या को स्वयं आजमा कर देखना था। गीता चाहे बुद्ध के पहले की कृति हो या पीछे की, उसके प्रति मेरी आस्था अटल थी। किशोर अवस्था से लेकर युवावस्था तक गीता के प्रति, गीता के उपदेशों के प्रति, विशेषकर स्थितप्रज्ञता के प्रति अपरिमित श्रद्धा थी। विपश्यना के इन दस दिनों की साधना में देखा कि यहां गीता की शिक्षा के महान सैद्धांतिक आदर्श का प्रयोगात्मक पक्ष सिखाया गया है। सदाचरण का पालन करना सिखाया गया जो कि धर्म की नींव है, आधारशिला है। अकुशल से बचते हुए कुशल कर्म करना सिखाया गया। इसे पुष्ट करने के लिए चित्त को एकाग्र करने का सक्रिय अभ्यास कराया गया। तदनंतर क्रियात्मक रूप से प्रज्ञा में स्थित होना सिखाया गया, जिससे कि साधक शनैः शनैः –

'दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः' हो सके।

'वीतरागभयक्रोधः' हो सके। -- (*गीता २.५६*)

'नाभिनन्दति न द्वेष्टि' -- (*गीता २.५७*) का एवं

'निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी' -- (*गीता १२.१३*) इत्यादि के सैद्धांतिक पक्ष का सक्रिय अभ्यास कराया गया। सुखद-दुःखद अनुभूतियों के चलते समता में परिपक्व होना सिखाया गया।

निःसंगभाव से समत्व में स्थित रहना गीता का प्रमुख उपदेश है।

... समत्वं योग उच्यते॥ -- (*गीता २.४८*)

यहां विपश्यना में देखा कि संपूर्ण साधनापथ समता के प्रशिक्षण से प्रकाशमान है। हर अवस्था में समता। प्रतिक्षण समता-ही-समता। विपश्यना और समता पर्यायवाची शब्द लगे।

समता के सक्रिय अभ्यास के पश्चात चित्त को यथाशक्ति निर्मल कर सद्भावना के सद्गुणों से भरना सीखा।

‘अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च’ -- (*गीता १२.१३*) का उदात्त भाव जगाने के लिए मंगलमयी मैत्री भावना सीख कर धन्य हुआ।

जिन अवस्थाओं को आध्यात्मिक जीवन में अपने लिए आदर्श मानता आ रहा था, उन्हें उपलब्ध करने की यहां वैज्ञानिक विधा सिखायी गयी। गीता के जिन उपदेशों ने अब तक मुझे विमुग्ध कर रखा था, वे उपदेश अब कोरे उपदेश नहीं रह गये। उनको जीवन-व्यवहार में उतार सकने का सुगम उपाय पाकर मैं प्रसन्नता से ओतप्रोत होकर भावविभोर हो उठा।

बचपन से ही मन में एक आदर्श अवस्था प्राप्त करने की दृढ़ धारणा बनी हुई थी। जब यह पढ़ा था कि–

के तोहि लागहि राम प्रिय, के तू राम-प्रिय होय।

तब यह कथन मेरे किशोर मानस को बहुत भाया था। परंतु मैंने इसमें किंचित सुधार किया–

संत ने तो कहा कि इन दोनों में से एक को चुन लो, तुम्हारा कल्याण हो जायगा। लेकिन मुझे इसमें कमी लगी। एक को ही क्यों चुनूं? मेरे प्रभु तो मुझे प्रिय हैं ही। अगर प्रिय नहीं होते तो उनके प्रति इतनी भक्ति, इतनी श्रद्धा कैसे जागती? – **“तू दयालु, दीन हौं, तू दानी हौं भिखारी।”** का पाठ करने वाला– एक दीन व्यक्ति दयालु के प्रति, एक भिखारी दाता के प्रति सम्मान का प्रिय भाव स्वभावतः रखेगा ही। इसके लिए प्रयत्न करने की और चुनाव करने की कोई आवश्यकता नहीं थी। तब उन्हीं दिनों मेरे मन में आया कि इन दोनों में से जो जँचे, किसी एक को नहीं चुनना है। एक तो चुना ही जा चुका। मुझे दूसरा भी चुनना है। मेरे प्रभु तो मुझे प्रिय हैं ही। इसके साथ-साथ मुझे स्वयं प्रभु का प्रिय भी बनना है। लेकिन कैसे बनूं? रोज प्रातःकाल प्रभु के चित्र के सामने आंसू बहाते हुए उनसे निर्विकार होने की प्रार्थना-याचना कर लेने मात्र से उनका प्रिय नहीं बन सकता। उनकी हजार प्रशस्ति-प्रशंसा करते रहने मात्र से भी मैं प्रभु-प्रिय नहीं बन सकता। प्रभु-प्रिय कैसे बनूं? इस समस्या का एक समाधान भी प्रकट हुआ।

किशोर अवस्था में जब गीता का अध्ययन किया तब दूसरे अध्याय का स्थितप्रज्ञ मेरे जीवन का आदर्श बना। मैं स्थितप्रज्ञ बनूं तभी प्रभु-प्रिय बन सकता हूं। अन्यथा कैसा प्रभु-प्रिय? और फिर बारहवें अध्याय में बताये गये भक्त के लक्षण यदि जीवन में प्रकट हों तभी प्रभु-प्रिय बन सकता हूं। यही मेरे प्रभु का स्पष्ट उद्‌घोष है।

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥

-- *(गीता १२.१६)*

ये सद्गुण हों तो स्वयं प्रभु कहते हैं कि **यो मद्भक्तः स मे प्रियः**। ऐसा भक्त मुझे प्रिय है। प्रभु-प्रिय होने के लिए ऐसा भक्त कैसे बनूं?

सारी अपेक्षाएं, तृष्णाएं, अभीप्साएं, कामनाएं दूर हो जायें तो ही अनपेक्ष होऊं। और शुचि, यानी – शुद्ध हृदय होऊं। मन, वाणी और शरीर के कर्म शुद्ध हों। **दक्षः** – जब मन में कोई मैल लग भी जाय तब उसे तत्क्षण दूर कर लेने में दक्ष होऊं। **उदासीनः** – जीवन की विषमताओं का सामना होने पर मन उदासीन बना रहे, यानी, समता में स्थित रहे। समता में स्थित रहे तो अपने आप **गतव्यथः** – सारी व्यथाएं दूर हो जायँ। ऐसा हो तो स्वतः **सर्वारम्भपरित्यागी** हो जाय, यानी किसी दुष्कर्म को आरंभ ही नहीं होने दे। खूब समझ में आया कि जब जीवन में ये सद्गुण समा जायँ, तभी अपने प्रभु का प्रिय बनूंगा। इनके बिना नहीं।

विपश्यना के प्रथम शिविर में ही देखा कि यहां इन्हीं सब का क्रियात्मक अभ्यास कराया जाता है।

शिविर के बाद भगवान बुद्ध की वाणी और उनकी शिक्षा को अधिकांशतः समझने के लिए पहली बार उनकी वाणी की प्रसिद्ध पुस्तक 'धम्मपद' का अध्ययन किया। एक बार, दो बार, तीन बार। अध्ययन करते-करते मैं भावविभोर हो उठा। मैंने देखा कि भगवान की वाणी में भारत के अध्यात्म की गगनचुंबी बुलंदियों के दर्शन हो रहे हैं। शुद्ध अध्यात्म ही अध्यात्म भरा पड़ा है। नितांत निर्दोष, निर्मल आर्य धर्म के लिए ही सारा प्रशिक्षण!

धम्मपद पढ़ते-पढ़ते देखा कि इसमें उन्हीं सद्गुणों की व्याख्या है, जिन्हें जीवन में धारण करने का लक्ष्य कब से लिए चल रहा था। इन सद्गुणों को कैसे पुष्ट किया जाय, दुर्गुणों को कैसे दूर किया जाय – यही तो भारत का गौरवमय पुरातन सनातन अध्यात्म है। धम्मपद में ऐसे ही सद्गुणों से भरपूर बने रहने की स्पष्ट व्याख्या और दूषित दुर्गुणों से दूर रहने का कुशल मार्गदर्शन भरा पड़ा है। एक ओर विपश्यना का सक्रिय अभ्यास करके आया और दूसरी ओर जब धम्मपद की इस अमृतवाणी को पढ़ा, तब पढ़ते-पढ़ते धर्म का उज्ज्वल स्वरूप मानस में प्रकाशित हो उठा।

पहले ही शिविर में मन आश्वस्त हुआ कि विपश्यना विद्या प्रत्यक्ष फलदायिनी है, कल्याणकारिणी है, अमंगलविनाशिनी है। इसमें कहीं रंच-मात्र भी दोष नजर नहीं आया।

शिविर के पश्चात दो प्रश्न मानस में अवश्य उभरे –

एक तो भगवान कृष्ण के प्रति कि उन्होंने स्थितप्रज्ञता जैसी अनुपम धर्ममयी शिक्षा में परिपक्व होने के लिए विपश्यना जैसी प्रयोगात्मक विद्या क्यों नहीं सिखायी? जिसके अभाव में महाभारत के लगभग सभी पात्र न्यूनाधिक मात्रा में झूठ, कपट, छल, छद्म, और प्रवंचना के प्रपंच में उलझे रहे। किसी पर स्थितप्रज्ञता के उपदेश का यथोचित प्रभाव नहीं पड़ सका।

दूसरा, भगवान बुद्ध के प्रति कि इतनी प्रत्यक्ष सुफलदायिनी विद्या के साथ-साथ आत्मा और परमात्मा के अस्तित्व को भी स्वीकार क्यों नहीं कर लिया? जिससे कि इस सर्वथा निर्दोष विद्या की उज्ज्वलता पर नास्तिकता का काला कलंक नहीं लगता।

दोनों प्रश्न उस समय की मेरी अधूरी जानकारी के ही द्योतक थे।

बुद्धवाणी का अध्ययन

बुद्ध को नास्तिक नहीं कहा गया

विपश्यना के निर्दोष पथ पर केवल दस दिन चलने पर ही यह स्पष्ट हो गया कि उस महापुरुष की सिखायी हुई यह भगवती साधना कितनी धर्मसंपन्न है और साधक को वस्तुतः धार्मिक बन सकने का व्यावहारिक पथ प्रशस्त करती है। तब बुद्ध की शिक्षा के प्रति जो अनेक भ्रांतियां थीं वे पिघलने लगीं। फिर भी एक नन्हा-सा प्रश्न मन में उठा ही कि हो सकता है इस दस दिन के साधना शिविर में मुझे जो सिखाया गया उसके अतिरिक्त भी बुद्ध ने कुछ ऐसी शिक्षा दी हो जो कि नितांत धर्मविरोधी हो, जिसके कारण भारत ने बुद्ध की शिक्षा का बहिष्कार किया और उसे देशनिकाला दिया। अतः पूरी सच्चाई जानने के लिए बुद्धवाणी भी पढ़ कर देखनी चाहिए। उसमें कहीं कोई दोष हो तो उससे बच सकूं।

गुरुदेव सयाजी ऊ बा खिन भी चाहते थे कि विपश्यना की सक्रिय साधना के साथ-साथ, मैं बुद्ध की धर्मशिक्षा के सैद्धांतिक पक्ष को भी जानूं और समझूं। इसके अतिरिक्त एक जिज्ञासा यह भी जागी कि बुद्ध के नास्तिकवादी होने के कारण उनके समकालीन लोग आत्मा और परमात्मा के आधार से शून्य उनकी इस शिक्षा का अवश्य विरोध किया करते होंगे। तब भगवान उन्हें किन शब्दों में समझाते होंगे? अपनी नास्तिकतावादी शिक्षा का कैसे न्यायीकरण करते होंगे?

इसलिए बुद्धवाणी का अध्ययन आरंभ किया। धम्मपद का हृदयस्पर्शी पारायण करने के बाद अन्य ग्रंथों को पढ़ते-पढ़ते कई ऐसे प्रसंग सामने आये, जिनमें देखा कि उस समय के कुछ-एक जात्यभिमानी पुरोहितों ने बुद्ध के प्रति अत्यंत अनादरभरे शब्दों का प्रयोग किया। उन्हें विभिन्न प्रकार से लांछित किया। यद्यपि यह भी देखा कि बहुत बड़ी संख्या में धर्मप्रेमी

विद्वान ब्राह्मण बुद्ध की शिक्षा को सही मानकर, उनके श्रद्धालु अनुयायी और प्रशंसक ही नहीं, बल्कि उनकी शिक्षा के प्रबल प्रसारक भी बन गये।

ये हैं कुछ ऐसे प्रसंग जहां भगवान बुद्ध को अपने विरोधियों के कटु अपशब्द सुनने पड़े।

अंबष्ट ब्राह्मण

दीघनिकाय के अंबष्ठ सूत्र में देखा कि यह ब्राह्मण युवक बुद्ध के प्रति नितांत निरादर का व्यवहार करता है और अपने इस व्यवहार को उचित बताते हुए कहता है –

ये च खो ते, भो गोतम, मुण्डका समणका इब्भा कण्हा बन्धुपादापच्चा,

– हे गौतम, ये जो मथमुंडे श्रमण हैं, जो इब्भ हैं, यानी, नीच हैं, काले हैं, ब्रह्मा के पैर से उपजे शूद्र हैं,

तेहिपि मे सद्धिं एवं कथासल्लापो होति,

– उनके साथ मेरा ऐसा ही कथा-संलाप होता है,

यथरिव भोता गोतमेन।

-- (दी०नि० १.३.२६३, अम्बट्ठसुत्तं)

– जैसा कि आप गौतम के साथ हो रहा है।

सुंदरिक भारद्वाज

एक प्रसंग यह सामने आया जब कि ब्राह्मण सुंदरिक भारद्वाज ने अपना अग्निहोत्र पूरा किया; अग्नि की परिचर्या पूरी की और तदनंतर किसी योग्य पात्र को हव्यशेष देने के लिए उठा। कुछ दूरी पर एक वृक्ष के नीचे भगवान बैठे थे। उन्होंने चीवर से अपना सिर ढँक रखा था। बायें हाथ में हव्यशेष और दाहिने में पानी का कमंडल लिए हुए सुंदरिक भारद्वाज उनके पास पहुँचा। आहट सुन कर भगवान ने अपना सिर उघाड़ा। यह देख कर भारद्वाज चौंका और दुत्कारते हुए कह उठा –

मुण्डो अयं भवं, मुण्डको अयं भवं।

-- *(सं०नि० १.१.१९५, सुन्दरिकसुत्तं)*

– अरे, यह तो मुंडा है; अरे, यह तो मथमुंडा है।

ऐसे व्यक्ति को हव्यशेष का दान देना उचित नहीं। यह सोच कर उसने उल्टे पांव मुड़ना चाहा...।

अग्गिक भारद्वाज

उन दिनों भगवान श्रावस्ती में विहार कर रहे थे। वे एक दिन भिक्षाटन के लिए निकले। घर-घर गोचरी करते हुए जब अग्गिक भारद्वाज के घर के सामने पहुँचे, तब वह हव्य (यज्ञ) की तैयारी कर रहा था। उसने तथागत को आते हुए देखा तो श्रमणों से घृणा करने वाला, उसके भीतर का अनुदार ब्राह्मणत्व जाग उठा। जात-पांत और छुआछूत का जो भूत उसके सिर पर सवार था, वह मुखरित हो उठा। 'मेरी इस पवित्र यज्ञ-शाला पर कहीं इस अपवित्र श्रमण की छाया न पड़ जाय। इससे कहीं मेरा पवित्र यज्ञ अपवित्र न हो जाय।' यह सोच कर वह भगवान को दूर से ही रोकते हुए चिल्लाया –

तत्रेव, मुण्डक; तत्रेव, समणक; तत्रेव, वसलक तिट्ठाहि।

-- *(सु०नि० ७, वसलसुत्तं)*

– अरे मथमुंडे, वहीं रुक, वहीं ठहर। अरे श्रमण, वहीं रुक, वहीं ठहर। अरे नीच वृषल (चांडाल), वहीं रुक, वहीं ठहर।

हम देखते हैं कि भगवान की छाया तक जिन्हें असह्य थी, उन्होंने किन शब्दों से उनका अपमान किया।

मागंडिय

एक बार भगवान कुरु प्रदेश में कम्मासधम्म निगम में भारद्वाज-गोत्रीय ब्राह्मण की अग्निशाला में ठहरे हुए थे। अग्निशाला में उनका तृणासन बिछा था। भगवान भिक्षाटन के लिए बाहर गये हुए थे। उस

समय परिव्राजक ब्राह्मण मागंडिय, भारद्वाज ब्राह्मण से मिलने आया। आसन देख कर वह चौंका और पूछ बैठा –

“भारद्वाज, यह किसका आसन है? देखने में किसी श्रमण का आसन लगता है।”

भारद्वाज ने भगवान की प्रशंसा-प्रशस्ति में कुछ शब्द कहे और बताया कि यह उन्हीं का आसन है। यह सुन कर परिव्राजक ब्राह्मण मागंडिय बिगड़ उठा और अत्यंत जुगुप्साभरे भाव में बोला –

दुद्दिट्ठं वत, भो भारद्वाज, अद्दसाम!

– हे भारद्वाज, इसे देखना बड़ा अमंगलकारी हुआ।

ये मयं तस्स भोतो गोतमस्स भूनहुनो सेय्यं अद्दसाम।

-- *(म०नि० २.२०७, मागण्डियसुत्तं)*

– यह जो मेरे द्वारा उस भूनहू गौतम का आसन देखा गया।

उन दिनों भूनहू गाली का शब्द था। कोई व्यक्ति दुराचार करके दुराचारिणी गर्भिणी का भ्रूण गिरवाये, यानी, उस भ्रूण की हत्या करवाये, उसे भूनहा (भ्रूणहा) कहा जाता था। ऐसे निंदनीय शब्दों से मागंडिय ब्राह्मण ने बुद्ध की भर्त्सना की।

संगारव माणव

कोशल देश के मंगलकल्प स्थान में धनंजानी नाम की एक ब्राह्मणी रहती थी। वह भगवान के प्रति अत्यंत श्रद्धालु थी। एक बार चलते हुए वह जरा-सी फिसली। तब अनायास उसके मुँह से भगवान के प्रति प्रशस्ति-नमन की यह वाणी निकल पड़ी –

नमो तस्स भगवतो अरहतो सम्मासम्बुद्धस्स।

– नमस्कार है उन भगवान अरहंत सम्यक संबुद्ध को!

पास ही संगारव नामक ब्राह्मण माणवक खड़ा था। उसने ये शब्द सुने तो तिलमिला उठा और धनंजानी ब्राह्मणी को धिक्कारते फटकारते हुए बोला –

अवभूताव अयं धनञ्जानी ब्राह्मणी, परभूताव अयं धनञ्जानी ब्राह्मणी।

– गिरी हुई है रे, यह ब्राह्मणी धनंजानी! पतिता है रे, यह ब्राह्मणी धनंजानी!

विज्जमानानं (तेविज्जानं) ब्राह्मणानं,

– जो त्रिवेदीब्राह्मणों के विद्यमान होते हुए,

अथ च पन तस्स मुण्डकस्स समणकस्स वण्णं भासिस्सतीति।

-- *(म०नि० २.५.४७३, सङ्गारवसुत्तं)*

– उस मथमुंडे श्रमण की प्रशंसा करती है।

ब्राह्मणी धनंजानी का पति

भगवान बुद्ध के प्रति अत्यंत श्रद्धाविनत होने के कारण इसी धनंजानी ब्राह्मणी ने एक बार अपने पति को भोजन परोसते हुए तीन बार यह नमन घोष किया –

नमो तस्स भगवतो अरहतो सम्मासम्बुद्धस्स।

– नमस्कार है उन भगवान अरहंत सम्यक संबुद्ध को!

यह सुन कर अपनी परंपरागत मान्यता में जकड़ा हुआ उसका पति चिड़चिड़ा उठा और क्रुद्ध होकर बोला –

एवमेवं पनायं वसली – यह ऐसी चांडालिनी है जो कि –

यस्मिं वा तस्मिं वा तस्स मुण्डकस्स समणस्स वण्णं भासति।

-- *(सं०नि० १.१.१८७, देवतासंयुत्तं)*

– जब देखो तब उस मथमुंडे श्रमण का गुण गाती रहती है।

बुद्धवाणी का पारायण करते-करते ऐसे अनेक प्रसंग मेरे सामने आये। इससे एक सच्चाई यह सामने आयी कि भगवान की शिक्षा को नितांत शुद्ध और कल्याणकारी मानकर अनेक बुद्धिमान ब्राह्मण उनके श्रद्धालु अनुयायी बन गये। लेकिन उस समाज का एक ऐसा संकीर्णचेता कट्टरपंथी वर्ग भी था जो उन्हें देखना भी नहीं चाहता था। यह भी नहीं चाहता था कि उनके यज्ञ

पर बुद्ध की छाया तक पड़े। उनकी प्रशंसा के शब्द भी सुनना नहीं चाहता था।

ऐसा होना स्वाभाविक था क्योंकि भगवान की शिक्षा के प्रसारित होने पर इन जात्यभिमानी पुरोहितों को दो बड़ी कड़ी चोटें लगी थीं।

१) एक चोट यह लगी कि हिंसामय यज्ञ बंद कराने में बुद्ध को अभूतपूर्व सफलता मिली, जिससे अनेक पुरोहितों की रोजी-रोटी पर आघात हुआ। किसी-किसी महायज्ञ में दक्षिणा के रूप में उन्हें अपार धन प्राप्त होता था। उस पर रोक लगने लगी।

२) दूसरी चोट यह लगी कि भगवान की यह वाणी समाज में प्रचलित होने लगी कि –

न जच्चा वसलो होति, न जच्चा होति ब्राह्मणो।
कम्मुना वसलो होति, कम्मुना होति ब्राह्मणो॥

-- *(सु०नि० १४२, वसलसुत्तं)*

– कोई जन्म से चांडाल नहीं होता और न जन्म से कोई ब्राह्मण होता है। कर्म से ही चांडाल होता है और कर्म से ही ब्राह्मण होता है।

जातिवाद पर यह गहरा प्रभावी प्रहार था-- यह जो गलत मान्यता समाज में चल पड़ी थी कि कितना ही पतित क्यों न हो, तब भी एक ब्राह्मण ही श्रेष्ठ है और कितना ही जितेंद्रिय क्यों न हो, तब भी एक शूद्र तो नीच ही है। जब इस धर्मविरोधी मान्यता पर प्रहार होने लगा तब इन जात्यंध पुरोहितों के अहंकार को गहरी चोट लगी।

हम देखते हैं कि अनेक प्रसिद्ध-प्रसिद्ध राजपुरोहित तथा अन्य प्रतिष्ठित ब्राह्मण बुद्ध के अनुयायी हो गये। इससे भी ये विरोधी पक्ष के पुरोहित तिलमिला उठे होंगे। इस कारण भी इन थोड़े से कट्टरवादी पुरोहितों ने बुद्ध के लिए अनुचित अपशब्दों का प्रयोग किया होगा। लेकिन आश्चर्य यह देख कर हुआ कि किसी ने भी यह कह कर बुद्ध की निंदा नहीं की कि तुम न आत्मा को मानते हो, न परमात्मा को। ऐसे नास्तिकवाद का प्रचार करके तुम समाज में अधर्म फैलाते हो। किसी ने भी बुद्ध पर आत्मा और परमात्मा को न मानने वाले नास्तिक होने का लांछन नहीं लगाया, जब कि

यह स्पष्ट था कि भगवान बुद्ध आत्मा और परमात्मा के प्रश्न पर मौन ही रहते थे ।

मिथ्यादृष्टि वाले विरोधियों ने उनके लिए इन दस अपमानजनक शब्दों का उपयोग किया – "तू चोर है, तू मूर्ख है, तू मूढ़ है, तू ऊंट है, तू बैल है, तू गधा है, तू नरकवासी है, तू जानवर है, तेरी सद्गति नहीं है, तेरी दुर्गति ही होगी।"

तिस पर भी उन्हें 'नास्तिक' कह कर लांछित नहीं किया।

तब मन में यह प्रश्न उठा कि छब्बीस सौ वर्ष पूर्व के भारत में जिन भगवान बुद्ध को उनके समकालीन विरोधी 'नास्तिक' नहीं कहते थे, उन्हें आगे जाकर नास्तिक क्यों कहा जाने लगा? इस प्रश्न पर चिंतन चलता रहा। तब कई अन्य महत्त्वपूर्ण सच्चाइयां प्रकट हुईं।

कौन थे नास्तिक?

बुद्धवाणी का पारायण करते हुए यह देख कर बहुत आश्चर्य हुआ कि उन दिनों आस्तिक और नास्तिक की व्याख्या आज की व्याख्या से सर्वथा भिन्न थी। शाब्दिक अर्थ तो वही था, यानी, आस्तिक वह जो किसी के अस्तित्व को स्वीकारे, और नास्तिक वह जो उसे नकारे। लेकिन किसके अस्तित्व को स्वीकारे अथवा नकारे, जिससे कि कोई व्यक्ति आस्तिक कहलाये या नास्तिक? आज आत्मा और परमात्मा के अस्तित्व को स्वीकारने या नकारने वाले को ही आस्तिक या नास्तिक कहा जाने लगा है। इन शब्दों का इन अर्थों में प्रयोग कब आरंभ हुआ? यह तो शोध का विषय है परंतु इतना स्पष्ट था कि २,६०० वर्ष तथा इसके पूर्व के भारत में इन शब्दों का यह अर्थ रंचमात्र भी नहीं था। उन दिनों का अर्थ सर्वथा भिन्न था।

उन दिनों कर्मबीज और तदनुकूल कर्मफल के नैसर्गिक नियम को जो नकारते थे वे नास्तिक कहलाते थे और जो स्वीकारते थे वे आस्तिक कहलाते थे। भगवान के समकालीन छह प्रसिद्ध धर्माचार्य थे जिनमें से चार नितांत नास्तिक थे। वे चारों नास्तिक होते हुए भी बहुत बड़े गणाचार्य थे, गणाध्यक्ष थे, यानी, बहुत बड़ी संख्या में लोग उनके अनुयायी थे। वे चारों अत्यंत यशस्वी थे। ज्ञानी माने जाते थे। उन्होंने अपने-अपने तीर्थ, यानी, संप्रदाय स्थापित कर रखे थे इसलिए 'तीर्थंकर' कहलाते थे। समाज के अनेक लोगों द्वारा पूज्य थे, सम्मानित थे। चिरकाल से गृहत्यागी थे। वयोवृद्ध थे। अतः बहुत अनुभवी थे। उनमें से कोई श्रमण परंपरा के थे और कोई ब्राह्मण परंपरा के। उनमें से एक था– 'प्रक्रुध कात्यायन' जो स्पष्टतया ब्राह्मणी परंपरा का था। दूसरा था 'पूर्ण काश्यप'। वह भी लगता है ब्राह्मणी परंपरा का ही था। तीसरा था 'मक्खलि गोसाल' जो कि श्रमण परंपरा का था। चौथा था 'अजित केसकंबल'। वह भी श्रमण था। उन चारों की मान्यताएं और उनके प्रशिक्षण को जरा विवरण से समझें तो जानेंगे कि वे क्यों नास्तिक कहलाते थे।

अजित केसकंबल का मत

नत्थि दिन्नं, नत्थि यिट्ठं, नत्थि हुतं।

– न कोई दान है। न यज्ञ और न होम है, जो कि मुख्यतः दान के लिए किये जाते हैं। जब दान ही निरर्थक है तो होम और यज्ञ भी निरर्थक ही हैं।

नत्थि सुकतदुक्कटानं कम्मानं फलं विपाको।

– न किसी सुकृत का, न दुष्कृत का कोई अच्छा या बुरा फल मिलता है।

नत्थि अयं लोको, नत्थि परो लोको।

न यह लोक है, न परलोक, यानी, न तो परलोक से मरा हुआ व्यक्ति इस लोक में आकर जन्म लेता है और न इस लोक में मरा व्यक्ति किसी परलोक में जाकर जन्म लेता है। इस लोक और परलोक के आवागमन की मान्यता नितांत मिथ्या है।

नत्थि माता, नत्थि पिता।

– न माता है, न पिता है।

यानी माता-पिता के साथ किये गये कामभोग पर कोई प्रतिबंध नहीं हो, बल्कि खुली छूट हो। वैसे ही जैसे कि पशु-पक्षियों में होता है। पुत्र युवा हो जाये तो अपनी माता के साथ कामभोग करता है। पुत्री युवती हो जाये तो पिता उसके साथ कामभोग करता है। यह निसर्ग का नियम सभी प्राणियों पर लागू होना चाहिए। मनुष्य समाज में भी इस पर कोई प्रतिबंध नहीं होना चाहिए।

नत्थि सत्ता ओपपातिका,

– यह मिथ्या मान्यता है कि माता-पिता के संयोग के बिना ही देवलोक में प्राणी जन्म लेता है। यह गलत है कि कोई प्राणी अयोनिज है, औपपातिक है यानी, अपने आप जन्म लेता है।

नत्थि लोके समणब्राह्मणा,

– यहां इस संसार में ऐसे कोई श्रमण या ब्राह्मण नहीं हैं, जो यह सही दावा करें कि वे

सम्मग्गता सम्मापटिपन्ना,

– अध्यात्म के क्षेत्र में सम्यक गतिवान होकर, अध्यात्म के मार्ग पर सम्यक प्रकार से प्रतिपन्न होकर,

ये इमञ्च लोकं परञ्च लोकं सयं अभिञ्ञा सच्छिकत्वा पवेदेन्ति।

– अपनी साधना की सिद्धि के बल पर इहलोक और परलोक की सच्चाइयों को स्वयं साक्षात्कार करके, स्वयं जान कर उसे व्यक्त करते हैं।

चातुमहाभूतिको अयं पुरिसो, यदा कालङ्करोति,

– चार महाभूतों से बना हुआ मनुष्य जब मृत्यु को प्राप्त होता है, तब –

पथवी पथविकायं अनुपेति अनुपगच्छति,

– उसमें जो पृथ्वी तत्त्व है, वह पृथ्वी समूह में, यानी, महापृथ्वी में विलीन हो जाता है,

आपो आपोकायं अनुपेति अनुपगच्छति,

– जो जल तत्त्व है, वह जल समूह में, यानी, महाजल में विलीन हो जाता है,

तेजो तेजोकायं अनुपेति अनुपगच्छति,

– जो तेजस तत्त्व (अग्निधातु) है, वह महातेज में विलीन हो जाता है,

वायो वायोकायं अनुपेति अनुपगच्छति।

– जो वायु तत्त्व है, वह वायु समूह में, यानी, महावायु में विलीन हो जाता है।

आकासं इन्द्रियानि सङ्कमन्ति।

– इंद्रियां आकाश में समा जाती हैं।

आसन्दिपञ्चमा पुरिसा मतं आदाय गच्छन्ति।

– चार लोग मृतक को अर्थी पर लिटा कर ले जाते हैं।

यावाळाहना पदानि पञ्ञायन्ति।

– और दाह क्रिया होने तक, उसके शारीरिक चिह्न जान पड़ते हैं।

कापोतकानि अट्ठीनि भवन्ति।

– उसे चिता पर लिटा कर जला देने के बाद भस्मीभूत हो जाता है। केवल कबूतर की-सी सफेद हड्डियां बची रह कर बिखर जाती हैं।

भस्सन्ता आहुतियो, दत्तुपञ्ञत्तं यदिदं दानं।

– उस मृतक के नाम पर की गयी हवन की आहुतियों का अनुष्ठान और श्राद्ध करके दिया गया दान, उसके कोई काम नहीं आता। उसके लिए निरर्थक होता है।

तेसं तुच्छं मुसा विलापो ये केचि अत्थिकवादं वदन्ति।

– अतः (मरने के बाद फल प्राप्त होने की बात) जो ये आस्तिकवादी कहते हैं, यह उनका तुच्छ और मिथ्या प्रलापमात्र है।

बाले च पण्डिते च कायस्स भेदा उच्छिज्जन्ति विनस्सन्ति, न होन्ति परं मरणा’ति।

-- (दी०नि० १.१७१, अजितकेसकम्बलवादो)

– (क्योंकि) चाहे कोई मूर्ख हो या पंडित, मरणोपरांत सबके शरीर नष्ट हो जाते हैं। वे उच्छिन्न हो जाते हैं। मरने के बाद कोई नहीं रहता।

यह आचार्य कर्मों के शुभाशुभ फलों का सर्वथा निराकरण करता था। अतः नास्तिकवादी था। मरने पर सब कुछ उच्छिन्न हो जाता है, ऐसा उपदेश देने के कारण उच्छेदवादी भी कहलाता था। आस्तिकवादियों के अनुसार जो कर्म इसी जन्म में फलीभूत नहीं होते वे भावी जन्मों में फल देते हैं। कर्मों के

फल को न मानने वाला यह आचार्य देह के यहीं भस्मीभूत हो जाने के कारण पुनर्जन्म को नकारता था।

उसकी मान्यता के अनुसार जीवन जन्म से मृत्यु तक ही सीमित होता है, उसके बाद कुछ नहीं बचता। सब कुछ उच्छिन्न हो जाता है। जब सब कुछ उच्छिन्न हो जाता है तब पुनर्जन्म किसका भला? जब होम, यज्ञ करने वाले या दान देने वाले का अस्तित्व ही नहीं रहता, तब उसके इन कर्मों का फल किसे मिलता है भला! किसी अन्य सत्कर्म का या दुष्कर्म का अच्छा या बुरा फल भी किसे मिलता है भला! यों कर्मानुकूल फल प्राप्त होने के सिद्धांत को न मानने के कारण यह मत नास्तिकवादी कहलाता था। वह आस्तिकवादियों का मखौल उड़ाया करता था।

उसकी यह मान्यता उस नास्तिकवाद से पूर्णतया मेल खाती है जिसमें कहा गया –

'भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः?'

इन दोनों में कौन पूर्ववर्ती है और कौन परवर्ती? यह शोध का विषय है। परंतु इन दोनों में साम्य असंदिग्ध है, स्पष्ट है।

हम देखेंगे कि यह घोर नास्तिकवादी मान्यता, आगे जाकर कितने गहरे गर्त तक जा गिरी।

पूर्ण काश्यप का मत

करोतो कारयतो – (कोई भी दुष्कर्म) करने करवाने

छिन्दतो छेदापयतो – (किसी की काया का) छेदन करने करवाने

पचतो पाचापयतो – (हत्या करके उनका मांस) पकाने पकवाने

सोचयतो सोचापयतो – (किसी भी प्राणी को) शोक निमग्न करने करवाने

किलमतो किलमापयतो – व्याकुल करने करवाने

फन्दतो फन्दापयतो – प्रकंपित करने करवाने

पाणमतिपातापयतो – प्राणी हत्या करने करवाने

अदिन्नं आदियतो – बिना दिया हुआ लेने, यानी, चोरी करने

सन्धिं छिन्दतो – (किसी के घर) सेंध लगाने

निल्लोपं हरतो – किसी को लूटने

एकागारिकं करोतो – चोरी करने

परिपन्थे तिट्ठतो – बटमारी करने

परदारं गच्छतो – परनारीगमन करने

मुसा भणतो – झूठ बोलने

करोतो न करीयति पापं – इत्यादि करते हुए कोई पाप नहीं करता है।

खुरपरियन्तेन चेपि चक्केन – तेज छुरे की धार के समान चक्र द्वारा

यो इमिस्सा पथविया पाणे – जो इस पृथ्वी के प्राणियों को

एकं मंसखलं एकं मंसपुञ्जं करेय्य – काट-काट कर उनके मांस का खलिहान बना दे, ढेर लगा दे, तब भी

नत्थि ततोनिदानं पापं, नत्थि पापस्स आगमो – इससे कोई पाप नहीं होता। न पाप का परिणाम आता है।

दक्षिणञ्चेपि गङ्गाय तीरं गच्छेय्य – (यहां राजगिरि से चलते हुए) गंगा के दक्षिणी तट तक पहुँचते-पहुँचते,

हनन्तो घातेन्तो, छिन्दन्तो छेदापेन्तो – प्राणियों की हत्या करने, कराने, उन्हें काटने कटवाने,

पचन्तो पाचापेन्तो – उन्हें अग्नि पर पकाने पकवाने,

नत्थि ततोनिदानं पापं, नत्थि पापस्स आगमो – के कारण कोई पाप नहीं होता, न उस पाप का कोई परिणाम आता है।

उत्तरञ्चेपि गङ्गाय तीरं गच्छेय्य – (इसी प्रकार) गंगा के उत्तरी तट पर जाकर,

ददन्तो दापेन्तो – दान देने दिलवाने

यजन्तो यजापेन्तो – यजन करने, यजन करवाने

नत्थि ततोनिदानं पुञ्ञं – के कारण कोई पुण्य नहीं होता।

नत्थि पुञ्ञस्स आगमो – न पुण्य का कोई परिणाम आता है।

दानेन दमेन संयमेन सच्चवज्जेन – दान से, दमन से, संयम से, सत्यभाषण से,

नत्थि पुञ्ञं, नत्थि पुञ्ञस्स आगमो – न कोई पुण्य होता है, न पुण्य का कोई परिणाम आता है।

-- (दी०नि० १.१६६, पूरणकस्सपवादो)

यह आचार्य कर्म और तदनुकूल कर्मफल के नैसर्गिक नियम को नकारता था और इसी मत का प्रचार करता था। अतः नास्तिक था। नास्तिकवाद का प्रचार करता था। इसके उपदेश में अच्छे या बुरे कर्म का महत्त्व नहीं था। वह कर्मसिद्धांत का नितांत निराकरण करता था। अतः अकिरियवादी, यानी, अकर्मवादी भी कहलाता था। इस कारण भी नास्तिकवादी कहलाता था।

प्रक्रुध कात्यायन का मत

सत्तिमे काया – ये सात काया हैं, यानी, सात प्रकार के संग्रह हैं, समूह हैं, समुच्चय हैं।

अकटा अकटविधा – जो अकृत हैं, जो अविहित हैं।

अनिम्मिता अनिम्माता – न निर्मित हैं, न निर्माण करते हैं।

वञ्झा – बांझ हैं (इनसे कुछ उत्पन्न नहीं होता)

कूटट्ठा – कूटस्थ हैं।

एसिकट्ठायिट्ठिता – (नगर के द्वार पर स्थित इंद्रकील) स्तंभ के समान अचल हैं, अडिग हैं।

ते न इञ्जन्ति – ये प्रकंपित नहीं होते।

न विपरिणमन्ति – न इनमें कोई परिवर्तन होता है।

न अञ्ञमञ्ञं ब्याबाधेन्ति – न एक-दूसरे के लिए बाधक बनते हैं, न एक-दूसरे की हानि करते हैं।

नालं अञ्ञमञ्ञस्स सुखाय वा दुक्खाय वा सुखदुक्खाय वा – न एक-दूसरे के लिए सुख का, दुःख का, या सुख-दुःख का कारण बनते हैं।

कतमे सत्त – ये सात समुच्चय, संग्रह कौन-कौन से हैं?

पथवीकायो, आपोकायो, तेजोकायो, वायोकायो – पृथ्वी समुच्चय, जल समुच्चय, अग्नि समुच्चय, पवन समुच्चय,

सुखे, दुक्खे – सुख, दुःख,

जीवे सत्तमे – और सातवां जीव, यानी, प्राणी।

इमे सत्त काया – ये सात समुच्चय हैं।

अकटा अकटविधा – जो न कृत हैं, न विहित हैं।

अनिम्मिता अनिम्माता – न निर्मित हैं, न निर्माण करते हैं।

वञ्झा – बांझ हैं, इनसे कुछ उत्पन्न नहीं होता।

कूटट्ठा, एसिकट्ठायिट्ठिता – कूटस्थ हैं, (नगर के द्वार पर स्थित इंद्रकील) स्तंभ के समान अचल हैं, अडिग हैं।

ते न इञ्जन्ति, न विपरिणमन्ति – न ये प्रकंपित होते हैं, न इनमें कोई परिवर्तन होता है।

न अञ्ञमञ्ञं ब्याबाधेन्ति – न एक-दूसरे के लिए बाधक बनते हैं, न एक दूसरे की हानि करते हैं।

नालं अञ्ञमञ्ञस्स सुखाय वा दुक्खाय वा सुखदुक्खाय वा – न एक-दूसरे के लिए सुख का, अथवा दुःख का, अथवा सुख-दुःख का कारण बनते हैं।

तत्थ नत्थि हन्ता वा घातेता वा – वहां (यानी, इन अलग-अलग समूहों में) न कोई हत्या करने वाला है, न करवाने वाला है।

सोता वा सावेता वा – न सुनने वाला है, न सुनाने वाला है।

विञ्ञाता वा विञ्ञापेता वा – न जानने वाला है, न जनवाने वाला है।

यो पि तिण्हेन सत्थेन सीसं छिन्दति – ऐसी स्थिति में यदि कोई तीक्ष्ण शस्त्र से किसी का सिर भी काट देता है,

न कोचि कञ्चि जीविता वोरोपेति – तो इससे किसी का प्राण-हरण नहीं होता है।

सत्तन्नं त्वेव कायानमन्तरेन सत्थं विवरमनुपतती'ति।

-- *(दी०नि० १.१७४, पकुधकच्चायनवादो)*

– इन सातों समुच्चयों के बीच की पोल में से शस्त्र निकल जाता है, यानी, न कोई मरता है, न ही किसी का हनन होता है। ये सातों बिखर कर अपने-अपने बाहरी समूहों में जा मिलते हैं। क्योंकि ये अजर हैं, अमर हैं, अविनाशी हैं, इसलिए इन पर चलाया गया शस्त्र इनके मृत्यु का कारण नहीं बनता।

स्पष्टतया यह –

'नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।' (*गीता २.२३*) की मान्यता का पूर्वगामी संस्करण है अथवा परवर्ती, यह तो शोध का विषय है। परंतु दोनों की समानता असंदिग्ध है।

यह आचार्य भी कर्म-सिद्धांत का निराकरण करता था। किसी का सिर उतार लेने पर भी, किसी के प्राण हर लेने पर भी, हत्या करने का पाप नहीं मानता था; क्योंकि इस कर्म से कोई मरता ही नहीं। जो अमर है उसे कोई कैसे मारेगा? तब उसे मारने का पाप भी कैसे लगेगा? सभी जीव अमर हैं और हर अवस्था में अमर रहेंगे। अतः इसके मत को शाश्वतवादी कहा जाता था। कर्मसिद्धांत को नकारने के कारण नास्तिकवादी तो था ही।

मक्खलि गोसाल का मत

नत्थि हेतु नत्थि पच्चयो सत्तानं संकिलेसाय – प्राणियों के क्लेश का कोई हेतु नहीं है, कोई कारण नहीं है।

अहेतू अपच्चया सत्ता संकिलिस्सन्ति – बिना हेतु, बिना कारण (यानी, बिना कोई पापकर्म किये) ही प्राणी क्लेश पाते हैं।

नत्थि हेतु, नत्थि पच्चयो सत्तानं विसुद्धिया – इसी प्रकार प्राणियों की क्लेश-विमुक्ति का भी न कोई (पुण्य कर्म) हेतु है, न कारण।

अहेतू अपच्चया सत्ता विसुज्झन्ति – बिना हेतु, बिना कारण के ही प्राणी (विशुद्ध हो जाते हैं) विमुक्त हो जाते हैं।

नत्थि अत्तकारे, नत्थि परकारे – (विमुक्ति के लिए) न वे स्वयं कुछ कर पाते हैं, न दूसरे ही उनके लिए कुछ कर पाते हैं।

नत्थि पुरिसकारे, नत्थि बलं, नत्थि वीरियं, नत्थि पुरिसथामो, नत्थि पुरिसपरक्कमो – (विमुक्ति के लिए) .... न कोई बल, न वीर्य, न पुरुषार्थ, न पराक्रम काम आता है।

सब्बे सत्ता, सब्बे पाणा, सब्बे भूता, सब्बे जीवा – सभी सत्त्व, सभी प्राणी, सभी व्यक्ति, सभी जीव;

अवसा अबला अवीरिया – विवश हैं, निर्बल हैं, निर्वीर्य हैं।

नियतिसङ्गतिभावपरिणता – भाग्य और संयोग के वशीभूत होकर

छस्वेवाभिजातीसु सुखदुक्खं पटिसंवेदेन्ति – ... सुख-दुःख भोगते रहते हैं।

-- *(दी०नि० १.१६८, मक्खलिगोसालवादो)*

मूर्ख हों या ज्ञानी सब को चौदह लाख छियासठ सौ योनियों में से गुजरते हुए अस्सी लाख कल्पों तक भवसंसरण करना होता है। तभी दुःखों का अंत होता है। यह संभव नहीं है कि किसी शील, व्रत, तप अथवा ब्रह्मचर्य के सहारे कोई व्यक्ति अपने अपरिपक्व कर्म को परिपक्व कर सके अथवा परिपक्व कर्म को भोगकर उसका अंत कर सके। सुख और दुःख दोनों नपे-तुले होते हैं। संसार में उनका बढ़ना या घटना, उत्कर्ष या अपकर्ष नहीं हुआ करता। मूर्ख या ज्ञानी सभी को इस आवागमन में पड़ कर निश्चित समय तक भवसंसरण करते हुए ही दुःखों का अंत करना होता है।

यह आचार्य भी कर्मसिद्धांत का सर्वथा निराकरण करता था। सभी कर्मों को फलहीन मानता था। अतः नास्तिकवादी था। सब के लिए सब कुछ

निश्चित नियति के अनुसार होता है। अपना किया कोई शुभ कर्म काम नहीं आता। अतः अकिरियवादी, यानी, अकर्मवादी भी कहलाता था। भाग्यवादी भी कहलाता था। हर दृष्टि से नास्तिकवादी तो था ही।

प्रत्येक प्राणी को योनियों और कल्पों की निश्चित संख्या में से गुजरने की उसकी काल्पनिक मान्यता अन्य किसी समकालीन या पूर्ववर्ती परंपरा में नहीं देखी जाती। परंतु परवर्ती संतों की वाणी में चौरासी लाख योनियों में भवभ्रमण करने की मान्यता बहुचर्चित है। यद्यपि मक्खलि गोसाल की मान्यता है कि उसकी गिनायी हुई संख्या में से गुजर कर प्रत्येक प्राणी मुक्त हो जाता है, जब कि हमारे संतों की मान्यता है कि उसे हर बार चौरासी लाख का चक्कर पूरा करने पर मनुष्य योनि मिलती है जिसमें मुक्ति का मार्ग मिले तो मुक्त हो जाता है। अन्यथा पुनः मनुष्य जीवन पाने के लिए एक बार फिर चौरासी लाख का चक्कर पूरा करना पड़ता है। जैसे कि संत कबीर कहता है –

जो चौरासी उबरा चाहे, छोड़ कामिनी का चसका।

-- (संत० पृष्ठ- ७९/१४)

संत धरमदास कहता है –

लख चौरासी भरम के पायो मानुष देह।

-- (संत० पृष्ठ- ५६१/४)

मुस्लिम संत गुलाल भी चेतावनी के शब्दों में कहता है –

मानुष जनम पाइकै खोइले, भ्रमत फिरे चौरासी।

-- (संत० पृष्ठ- ६४४/२)

संत चरनदास सुकदेव भी मुक्ति के लिए प्रेरणा देता हुआ कहता है –

जो चाहे चौरासी छूटै, आवा-गवन नसावै रे।
चरनदास सुकदेव कहत है, सत-संगति मन लावै रे॥

-- (संत० पृष्ठ- ६७७/२०)

सभी परवर्ती संत आस्तिकवादी थे। वे लख चौरासी के दु:खद भव-भ्रमण से छुटकारा पाने के लिए सत्कर्म करने की प्रेरणा देते थे, जब कि नास्तिकवादी मक्खलि गोसाल निष्कर्मवाद की घोषणा करता था।

नास्तिकवादी आचार्यों के शिष्य

उपरोक्त चार प्रसिद्ध नास्तिक आचार्यों के अतिरिक्त इनके अनेक नास्तिकवादी शिष्य भी अवश्य रहे होंगे क्योंकि वे चारों गणाचार्य कहलाते थे। बुद्धवाणी में हमें उनके शिष्यों का कोई विशेष वर्णन नहीं मिलता। केवल कुछ एक राजदरबारियों का जिक्र आता है जो कि राजा अजातशत्रु के सामने अपने-अपने आचार्य की प्रशंसा करते हैं।

राजा पायासि

एक और नास्तिक राजा पायासि का वर्णन मिलता है जो कि कोशल देश के राजा प्रसेनजित द्वारा दिये गये एक धनी प्रदेश पर राज्य करता था। वह भी नितांत नास्तिक था। उसकी मान्यता भी यही थी कि न यह लोक है, न परलोक। जीव मरकर पुन: जन्म नहीं लेते। अच्छे और बुरे कर्मों का कोई फल नहीं मिलता।

भगवान बुद्ध के शिष्य भिक्षु कुमारकाश्यप द्वारा राजा पायासि से हुई वार्तालाप का विवरण हमें बुद्धवाणी में मिलता है। उनके उपदेशों से राजा पायासि नास्तिक दृष्टि से मुक्त हुआ।

नास्तिकवादी वस्स और भञ्ञ

लगता है केवल मज्झिम देश में ही नहीं बल्कि पूर्व के उक्कल (उत्कल) प्रदेश में भी नास्तिकवाद प्रचलित था। वहां के दो नास्तिकों के नाम हमारे सामने आते हैं। भगवान ने कहा कि उक्कल के **वस्स** और **भञ्ञ** नामक दो व्यक्ति अहेतुवादी, अकिरियवादी और नास्तिकवादी हैं। परंतु वे भी भगवान द्वारा उपदिष्ट अलोभ, अक्रोध, सम्यक स्मृति और सम्यक

समाधि – इन चारों धर्मपदों की शिक्षा की निंदा नहीं करते थे। इनका निषेध नहीं करते थे। यह केवल इसी भय के कारण कि ऐसा करने से लोग उनका उपहास करेंगे, उनसे नाराज होंगे, उन्हें बुरा मानेंगे। इससे स्पष्ट है कि उन दिनों कुछ एक ऐसे नास्तिकवादी भी थे जो सद्गुणमय सत्य धर्म के पालन का खुल कर विरोध नहीं करते थे। इतने अंश में वे कट्टर नास्तिकवादियों की तुलना में उदार थे। भले लोकनिंदा, लोकलाज और लोकभर्त्सना के कारण ही ऐसे रहे हों।

इससे यह अनुमान लगाना गलत नहीं होगा कि उपरोक्त चार प्रसिद्ध नास्तिक आचार्यों के समान ये संघपति नहीं थे और न ही तीर्थंकर थे। यदि उनका अपना कोई तीर्थ, यानी, संप्रदाय, होता तो आस्तिकवाद का विरोध करने में उन्हें हिचक नहीं होती। उन्हें अपने संप्रदाय के लोगों का सहयोग मिलता, समर्थन मिलता। परंतु यह भी स्पष्ट है कि वे अपनी नास्तिक मान्यता के कारण प्रसिद्ध अवश्य थे। अन्यथा भगवान उनके नास्तिक होने का उदाहरण क्यों देते?

अनिश्चयवादी संजय वेलट्ठपुत्त का मत

उन दिनों का एक अन्य गणाचार्य तीर्थंकर था – संजय वेलट्ठपुत्त। वह स्वयं ही अस्थिर मत का आचार्य था। कर्म और कर्मफल को, लोक और परलोक को वह न स्वीकारता था और न नकारता था। उसकी कोई निश्चित मान्यता नहीं थी। न वह नास्तिकता का समर्थन करता था, न आस्तिकता का। आश्चर्य है कि कोई स्थिर मत न होने पर भी उसके अनेक भक्त अनुयायी थे। सारिपुत्त और मोग्गल्लान सहित उसके २५० शिष्य जब उसे छोड़ कर भगवान बुद्ध के भिक्खुसंघ से जा जुड़े थे तब राजगीर के कतिपय गृहस्थ नागरिकों ने भगवान बुद्ध की निंदा की थी। स्पष्ट है कि वे गृहस्थ आचार्य संजय के अनुयायी भक्त थे, समर्थक थे।

आस्तिकवादी निगंठ नाटपुत्त (महावीर स्वामी) का मत

निगंठ नाटपुत्त भी गणी थे, गणाचार्य थे, तीर्थंकर थे। कर्मफल, पुनर्जन्म और लोक-परलोक को नकारने वाले नास्तिक आचार्यों के विरुद्ध भगवान बुद्ध की भांति नितांत आस्तिकवादी थे। शील-सदाचारयुक्त शुद्ध धर्म की शिक्षा देते थे। भवमुक्ति के लिए वीतराग होना सिखाते थे। उनकी वाणी से भी स्पष्ट है कि उन दिनों आस्तिकता और नास्तिकता का आत्मा और परमात्मा की मान्यता से कोई संबंध नहीं था। उन दिनों नास्तिकवादियों की जो मान्यता थी उसका महावीर स्वामी ने स्पष्ट रूप से खंडन किया और उन दिनों की आस्तिकवादी मान्यता का पूर्ण समर्थन किया। इस संबंध में उनकी आस्तिकवादी शिक्षा का एक उदाहरण देखें –

पाप-पुण्य

पुण्य और पाप कर्मों को अस्वीकार करने वालों के विरुद्ध कहा –

णत्थि पुण्णे व पावे वा, णेवं सण्णं निवेसए।
अत्थि पुण्णे व पावे वा, एवं सण्णं निवेसए॥

-- *(संज्ञा०)*

– न पुण्य है न पाप, ऐसी मान्यता नहीं रखनी चाहिए, अपितु पुण्य भी है और पाप भी, ऐसी बुद्धि रखनी चाहिए।

स्पष्ट है कि उन दिनों की मान्यतानुसार भगवान बुद्ध और महावीर स्वामी दोनों परम आस्तिक थे।

महावीर स्वामी के शिष्य

भारतीय इतिहास के अत्यंत प्राचीन काल से यहां श्रमण और वैदिक – ये दो परंपराएं अक्षुण्ण रूप में साथ-साथ चली आ रही हैं।

बुद्धवाणी के अध्ययन से यह स्पष्ट हुआ कि वैदिक परंपरा के चंद कट्टरवादियों ने भगवान बुद्ध को अनेक तिरस्कारभरे शब्दों से अपमानित किया। परंतु इस परंपरा के विरोधी-से-विरोधी व्यक्ति ने भी कभी भगवान बुद्ध को आत्मा और परमात्मा को न मानने वाला नास्तिक नहीं कहा।

उन दिनों श्रमण परंपरा की अनेक शाखाएं थीं। इनमें दो प्रमुख थीं – एक बुद्ध की और दूसरी निगंठ नाटपुत्त की, यानी, महावीर स्वामी की। देखें, अपने यहां महावीर स्वामी की श्रमण परंपरा उन्हें किस रूप में देखती थी। भगवान बुद्ध और महावीर स्वामी की शिक्षा में बहुत कुछ समानता होने पर भी कुछ अंशों में पारस्परिक मतभेद भी थे। तिस पर भी हम महावीर स्वामी के अनुयायियों द्वारा बुद्ध पर यह लांछन लगाते कहीं नहीं देखते कि वे आत्मा के अस्तित्व को नहीं स्वीकारते, इसलिए नास्तिक हैं, और हम आत्मा के अस्तित्व को स्वीकारते हैं, इसलिए आस्तिक हैं। जब परमात्मा के अस्तित्व को दोनों ही नहीं स्वीकारते थे, तब इसे लेकर बुद्ध को नास्तिक कहने का तो कोई कारण भी नहीं था। देखें दोनों परंपराओं के मतभेद किन शब्दों में अभिव्यक्त हुए।

सिंह सेनापति

लिच्छवी गणतंत्र का सेनापति 'सिंह' महावीर स्वामी का एक प्रमुख अनुयायी था। उसके मन में यह इच्छा जागी कि मैं भगवान बुद्ध से मिलूं, क्योंकि लिच्छवी गणतंत्र के अनेक लोग भगवान बुद्ध के अनुयायी बन चुके थे। लेकिन उसे महावीर स्वामी ने यह कहकर रोका कि तुम तो क्रियावादी हो और बुद्ध अक्रियावादी है। अतः उसे मिल कर क्या करोगे? अपनी हानि ही कर लोगे। इस प्रकार दो बार रोके जाने पर भी, तीसरी बार जब उससे नहीं रहा गया तब भगवान बुद्ध से मिलने चला गया। जाते ही उनसे पहला प्रश्न यही किया – 'भगवान! आप को लोग अक्रियावादी कहते हैं। इस बारे में आपका क्या कहना है?'

अक्रियावादी उन दिनों की एक गाली थी। वह श्रमण विरोधिनी मान्यता थी। श्रमण परंपरा के अनुसार जब कोई भी व्यक्ति अपने श्रम से, अपने परिश्रम से, पुरुषार्थ से, पराक्रम से, अपने चित्त के विकारों का

निष्कासन करते-करते वीतराग हो जाय, वीतद्वेष हो जाय, वीतमोह हो जाय, तब भव-संसरण से विमुक्त होता है। लेकिन जो अक्रियावादी थे, वे विमुक्त होने के लिए किसी परिश्रम को सार्थक नहीं मानते थे। उसे निरर्थक कहते थे। उनके अनुसार कोई पुरुषार्थ करने की आवश्यकता नहीं होती। समय आने पर प्राणी स्वतः मुक्त हो जाता है। उसके सारे परिश्रम निरर्थक होते हैं, व्यर्थ होते हैं, निष्फल होते हैं। अतः नास्तिकों की यह अक्रियावादी विचारधारा श्रमण परंपरा की धार्मिक मान्यता के विरुद्ध थी। यहां भगवान बुद्ध को अक्रियावादी बता कर उन्हें धर्म-विरुद्ध आचार्य कहा गया था। वस्तुतः बुद्ध विकार-विमुक्ति के लिए देहदंडन के क्रियाकलापों को निरर्थक मानते थे। इस क्रिया को न मानने के कारण उन्हें अक्रियावादी कहा गया।

परंतु सिंह सेनापति ने जब यह प्रश्न उनके सामने रखा तब भगवान ने उत्तर दिया कि मैं क्रियावादी भी हूं और अक्रियावादी भी। जो शरीर, वाणी और चित्त के कुशल कर्म हैं, उनको करता हूं, लोगों को करने की शिक्षा देता हूं। इस माने में क्रियावादी हूं। जो शरीर, वाणी और चित्त के अकुशल कर्म हैं, न मैं उन्हें स्वयं करता हूं और न किसी को करने का उपदेश देता हूं। बल्कि उसे न करने का उपदेश देता हूं। इस माने में अक्रियावादी हूं।

धर्म से भरपूर यह उत्तर सुन कर सिंह सेनापति अत्यंत आश्वस्त हुआ। भगवान पर लगा लांछन उसे मिथ्या प्रतीत हुआ। उसमें श्रद्धा जागी और वह उनका गृहस्थ शिष्य बन गया।

श्रेष्ठि उपालि

महावीर स्वामी का एक अन्य शिष्य था, नालंदा का उपालि नामक श्रेष्ठि। जब वह भगवान बुद्ध से मिलने गया तब उसने भगवान के समक्ष यह विवाद खड़ा किया कि मन और वाणी की अपेक्षा शरीर का कर्म ही प्रमुख है। भगवान ने अनेक उदाहरण देकर उसे समझाया कि मन का कर्म ही प्रमुख है, प्रधान है, शरीर का नहीं। यह सुन कर वह बहुत आश्वस्त हुआ, श्रद्धालु हुआ और भगवान का शिष्य बन गया।

हम देखते हैं कि इन दोनों में से किसी ने भी भगवान पर आस्तिक न होने या नास्तिक होने का लांछन नहीं लगाया। आत्मा और परमात्मा की

कोई चर्चा तक नहीं की। महावीर स्वामी भगवान बुद्ध के समकालीन थे। अतः स्पष्ट है कि उस समय तक आत्मा और परमात्मा को न मानने के कारण किसी पर नास्तिक का लांछन नहीं लगाया जाता था। यद्यपि यह प्रसिद्ध था कि बुद्ध अनात्मवादी थे। आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते थे। निरीश्वरवादी थे। संसार की रचना करने वाले किसी ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते थे। तिस पर भी इसे लेकर उन्हें नास्तिक नहीं कहा जाता था।

अभय राजकुमार

एक और प्रसंग है जब कि महावीर स्वामी का एक शिष्य अभय राजकुमार भगवान बुद्ध से मिलने गया। उसने उनसे यह प्रश्न किया कि क्या आप कभी अप्रिय वाणी भी बोलते हैं? मकसद यह था कि यदि वे स्वीकार करें कि वैसी वाणी बोलता हूं तब यह सिद्ध हो जायगा कि वे अपनी शिक्षा का स्वयं पालन नहीं करते। यदि इसे नकारें तब उन पर मिथ्या-वचन का दोष लगेगा, क्योंकि उन्होंने देवदत्त के लिए अप्रिय शब्दों का प्रयोग किया था।

अभय राजकुमार के इस प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान बुद्ध ने कहा कि– जहां जब जैसी आवश्यकता होती है वहां तब मैत्री चित्त से ऐसे अप्रिय शब्दों का भी प्रयोग किया जाता है, जिससे सुनने वाले का भला हो, उसका होश जागे और वह धर्म के पथ पर चलकर अपना कल्याण साध ले।

इस वार्तालाप में भी आत्मा-परमात्मा की मान्यता को लेकर विवाद नहीं किया गया और न उन पर नास्तिकता का लांछन लगाया गया।

इस अध्ययन द्वारा मैंने देखा कि चाहे वैदिक परंपरा हो अथवा श्रमणिक परंपरा, उनके जीवनकाल में कभी इस बात को लेकर भगवान पर लांछन नहीं लगाया गया कि वे न आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं न परमात्मा के। इस कारण वे नास्तिक हैं। स्पष्ट है कि उन दिनों नास्तिक शब्द का यह अर्थ ही नहीं था। यह अर्थ बहुत समय बाद ही गढ़ा गया। उस समय जो अर्थ था उसके अनुसार बुद्ध और महावीर दोनों परम आस्तिक थे।

उच्छेदवादी

एक प्रसंग में किसी ने भगवान पर यह लांछन लगाया कि वे उच्छेदवादी हैं। उच्छेदवादी उन नास्तिकवादियों को कहते थे जो कि जन्म से लेकर मृत्यु तक के जीवन को ही सत्य मानते थे, क्योंकि यही प्रत्यक्ष है, सांदृष्टिक है, आंखों के सामने है। इसके पहले और पीछे की मान्यताएं काल्पनिक हैं, अंधविश्वासजन्य हैं। मरने पर प्राणी का सब कुछ नष्ट हो जाता है। उसका सर्वथा उच्छेद हो जाता है। उसका पुनर्जन्म नहीं होता। मरणोपरांत कर्मों का फल भोगने वाला कोई नहीं बचता। जब जीवन इतना ही है, तब अपने को सुखी रखने के लिए इसका अधिक-से-अधिक उपयोग क्यों न करें? ऐसी मान्यता वाले अवश्य नास्तिक थे, क्योंकि वे कर्म और तदनुकूल कर्म-फल के नैसर्गिक सिद्धांत को स्वीकार नहीं करते थे। उनके जीवन का एक ही लक्ष्य था –

दुनिया को ठगना मक्कर से।
घी खाना शक्कर से॥

जब भगवान बुद्ध को उच्छेदवादी कहा गया तब उन्होंने इसे स्वीकार किया कि वे उच्छेदवादी हैं। परंतु अपने उच्छेदवाद का यह अर्थ बताया कि वे साधना द्वारा सभी पूर्वसंचित कर्मसंस्कारों का मूलोच्छेदन करना सिखाते हैं, जिससे कि जन्म-मरण के भव-संसरण से छुटकारा मिले। ऐसे उच्छेदवाद का भला कोई क्या विरोध करता? नासमझी से जब भगवान पर उच्छेदवादी होने का मिथ्या लांछन लगाया गया, तब भी उसमें आत्मा-परमात्मा के अस्तित्व के नकारने का कहीं कोई उल्लेख नहीं था।

बुद्धपूर्वकाल का नास्तिकवाद

यह थी भगवान बुद्ध की समकालीन वस्तुस्थिति। आओ, देखें! उनके पूर्ववर्ती समय में नास्तिकवाद किसे कहते थे?

वैदिक काल

प्रमदक

वैदिक युग के छांदस-भाषी साहित्य के अध्ययन से विदित होता है कि उस युग में भगवान बुद्ध के समकालीन नास्तिकों जैसे संघबद्ध दुराचार प्रचारक गणाचार्य देखने में नहीं आते। यद्यपि यास्क ने निरुक्त में **'प्रमदक'** नामक कामभोगी नास्तिकों की चर्चा की है जो कि परलोक की सत्ता में विश्वास नहीं करते थे। परंतु इन नास्तिकों का कितना जनाधार था इसका उल्लेख नहीं मिलता।

अनेक दार्शनिक

वैदिक युग में अनेक दार्शनिक हुए। हमारा अनुमान है कि उनमें से किसी ने भी आत्मा और परमात्मा के अस्तित्व को स्वीकारने को 'आस्तिक' और नकारने को 'नास्तिक' नहीं कहा।

श्रमण काल

राजा ब्रह्मदत्तकालीन एक नास्तिक आचार्य

हम देखते हैं कि पूर्व श्रमणकाल में सम्यक संबुद्ध के पहले भी कर्मसिद्धांत के विरोधी नास्तिकवादी आचार्य हुए। राजा ब्रह्मदत्त के राज्यकाल में एक नास्तिक आचार्य का मत था –

चतुन्नंयेवुपादाय, रूपं सम्भोति पाणिनं।
यतो च रूपं सम्भोति, तत्थेवानुपगच्छति।
इधेव जीवति जीवो, पेच्च पेच्च विनस्सति॥

-- *(जा० २.१८.१४८, महाबोधिजातकं)*

– महाभूतों से प्राणियों के शरीर की उत्पत्ति होती है। जहां (इस प्रकृति से) यह शरीर उत्पन्न होता है, वहीं विलीन हो जाता है। प्राणी केवल यहीं जीवित रहता है। मरणोपरांत विनष्ट हो जाता है।

उच्छिज्जति अयं लोको, ये बाला ये च पण्डिता।
उच्छिज्जमाने लोकस्मिं, क्विध पापेन लिप्पति॥

-- *(जा० २.१८.१४९, महाबोधिजातकं)*

– पंडित हो या मूर्ख, सभी यहीं इसी लोक में उच्छिन्न हो जाते हैं। जीवनलीला यहीं इसी लोक में समाप्त हो जाती है तब उन्हें किसी भी किये हुए कर्म का पाप कैसे लगता?

आजीवक काश्यप

अतीतकाल की श्रमण परंपरा में हम एक अन्य नास्तिकवादी आचार्य का वर्णन देखते हैं। यह उस समय की घटना है जब कि भगवान बुद्ध पूर्वकाल में मिथिलेश अंगराज के राज्यकाल में बोधिसत्व महानारदकस्सप के नाम से जन्मे थे। आजीवक धीरवान काश्यप उन दिनों का एक प्रसिद्ध नास्तिक आचार्य था। वह कहता था –

नत्थि धम्मचरितस्स, फलं कल्याणपापकं।
नत्थि देव परो लोको, को ततो हि इधागतो॥

-- *(जा० २.२२.११८७, महानारदकस्सपजातकं)*

– धर्माचरण का कोई अच्छा-बुरा फल नहीं होता। हे देव(राजन)! वहां से लौट कर यहां कौन आया है? (जो कह सके कि सचमुच कोई देवलोक है)।

नत्थि बलं वीरियं वा, कुतो उट्ठानपोरिसं।
नियतानि हि भूतानि, यथा गोटविसो तथा॥

-- *(जा० २.२२.११८९, महानारदकस्सपजातकं)*

– न बल काम आता है, न वीर्य। पुरुष का पुरुषार्थ कहां काम आये! यहां तो सारे प्राणी नियति (भाग्य) का अनुगमन करते हैं। जैसे कि नाव का पिछला भाग नाव का अनुगमन करते रहता है।

अनुपुब्बेन नो सुद्धि, कप्पानं चुल्लसीतिया।
नियतिं नातिवत्ताम, वेलन्तमिव सागरो॥

-- *(जा० २.२२.११९७, महानारदकस्सपजातकं)*

– चौरासी लाख (योनि) कल्पों के पूरा होने पर प्राणी अपने आप विशुद्ध-विमुक्त हो जाता है। (इसके पहले-पीछे नहीं)। हम 'नियति' को उसी प्रकार नहीं लांघ सकते जैसे सागर अपने तट को।

सुखं वा यदि वा दुक्खं, नियतिया किर लब्भति।
संसारसुद्धि सब्बेसं, मा तुरित्थो अनागते॥

-- *(जा० २.२२.१२१५, महानारदकस्सपजातकं)*

– सुख और दुःख प्रारब्ध के अनुसार प्राप्त होते हैं। वे न्यूनाधिक नहीं हो सकते। संसरण-विमुक्ति निश्चित समय पर ही होगी। पहले-पीछे नहीं। इसके लिए जल्दबाजी करना निरर्थक है।

ऐसी भाग्यवादी अकर्मण्यता की मिथ्या मान्यता में अनुरक्त हुए इस नास्तिकवादी आचार्य ने मिथिलेश अंगराज को नित्य कामभोग में निरत रहने का परामर्श दिया।

उन्मुक्त कामभोग में कोई पाप नहीं। माता-पिता के बारे में वह कहता था – **'कुतो माता, कुतो पिता'** -- (*जा० २.२२.११८८, महानारदकस्सप-जातकं*) – कहां की माता, कहां का पिता! उनकी क्या विशेषता है?

ऐसी धर्म-विरोधी शिक्षा ने तत्कालीन विदेहराज अंग को पथभ्रष्ट कर दिया था। उसके उपदेश सुन कर वह कुमार्ग में पड़ गया था। राज्य-शासन का उत्तरदायित्व अपने मंत्रियों और सेनापतियों को सौंप कर वह अपने

नास्तिक आचार्य के **'कामेव बहुमञ्ञथ'** -- (*जा० २.२२.१२२१, महानारदकस्सपजातकं*), यानी, कामभोग को बहुत महत्त्व देने के उपदेश से प्रभावित होकर रात-दिन उन्मुक्त कामभोग में लीन रहने लगा। बोधिसत्त्व 'महानारद' ने उसे सदुपदेश देकर इस स्वच्छंद कामभोग के बुरे मार्ग से मुक्त करवाया।

उस नास्तिक अचेलक (नग्न) आजीवक आचार्य काश्यप के बारे में यह प्रसिद्ध था कि वह चित्रकथी था और गणी था। चित्रकथी, यानी, वाक्पटु था, चारुवाक था। गणी, यानी, गणाचार्य था। अनेक लोगों के समूह का आचार्य था। विदेहराज अंग जब इस आजीवक से सर्वप्रथम मिलने गया तब वहां पहले से ही अनेक ब्राह्मण और गृहस्थ उपस्थित थे। स्पष्ट है कि अनेक लोग उसका उपदेश सुनने आते थे। अनेक उसके अनुयायी थे।

आचार्य का व्यक्तित्व आकर्षक हो, वह वाक्चातुर्य में निपुण हो और फिर उन्मुक्त कामभोग की खुली छूट भी दे, तो वहां मनचले असंयमी धनसंपन्न लोगों की भीड़ लगनी स्वाभाविक थी। जब ऐसे चरित्रहीन आचार्यों द्वारा प्रचारित और उनके धनसंपन्न शिष्यों द्वारा अनुमोदित वाममार्ग सद्धर्म का बल क्षीण करने में सफल होते हैं तब जनसाधारण की बहुत बड़ी हानि होती है।

हम देखते हैं कि इस प्रकार के इक्के-दुक्के नास्तिक आचार्य पूर्वकालीन श्रमण परंपरा में भी पाये जाते थे।

भगवान बुद्ध द्वारा आस्तिकवादी सद्धर्म की स्थापना

भगवान बुद्ध ने ऐसी नास्तिकताभरी शिक्षा के विरुद्ध सात्त्विक सत्य धर्म की स्थापना कर विपुल लोक-कल्याण किया। नास्तिकवादी आचार्यों द्वारा सत्कर्मों की अवहेलना एवं दुष्कर्मों को प्रोत्साहन देने की शिक्षा से लोगों को बचाने के लिए और उन्हें कुशल कर्मों में लगाने के लिए भगवान ने आस्तिकवादी सत्यधर्म सिखाया। इसमें शील, सदाचार की प्रमुखता थी, और इसको पुष्ट करने के लिए मन को वश में करने की समाधि का अभ्यास था, तथा प्रज्ञा में स्थित होकर चित्त को पूर्णतया शुद्ध करने की विधा थी। उनके द्वारा दुष्कर्म की ओर प्रवृत्त होनेवाले स्वभाव को नष्ट करके मैत्री, करुणा और सद्भावना के आधार पर सद्धर्म में स्थापित होने की शिक्षा दी गयी। इस प्रकार नितांत आस्तिकवादी आठ अंग वाले आर्य मार्ग का शुद्ध धर्म सिखाया गया।

नास्तिकवादी वामाचार की जीवनचर्या में 'खाओ पीओ मौज करो' के सुखवादी सिद्धांत का बोलबाला रहता था। मद्यपान के साथ-साथ कामभोग-संबंधी दुराचरण की प्रभुता रहती थी। इनसे विरत रहने के लिए पंचशील के ये दो महत्त्वपूर्ण अंग सिखाये गये। एक **'कामेसुमिच्छाचारा वेरमणी'** (कामभोग संबंधी मिथ्याचरण से यानी, व्यभिचार से विरत रहना) और दूसरा **'सुरा-मेरय-मज्ज... वेरमणी'**। (सुरा, और कच्ची व पक्की मदिरापान से विरत रहना) इन दोनों को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया, जिससे कि लोग नास्तिकवादी वाममार्ग के स्वैराचार से छुटकारा पा सकें। इस निमित्त गृहस्थों को व्यभिचार से विरत रहने की शिक्षा दी गयी एवं भिक्षुओं के लिए नितांत ब्रह्मचर्य-पालन का कठोर नियम बनाया गया।

बुद्ध के पूर्वकाल में काममार्गी वामपथ सुसंगठित था या नहीं यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। लेकिन बुद्ध के समकालीन समाज में इन नास्तिक गणाचार्यों ने इसे संगठित तीर्थों का रूप दे दिया था।

बुद्ध ने शील-सदाचार पर आधारित और समाधि तथा प्रज्ञा से परिपुष्ट आर्य-धर्म को संगठित रूप से संस्थापित और प्रसारित करके समाज पर इन नास्तिकवादियों की जकड़न को दुर्बल किया। शील, समाधि, प्रज्ञा रूपी आस्तिकवादी पुरातन परंपरा को पुनर्प्रतिष्ठापित किया। समाज में शुद्ध धर्म पुनः प्रतिष्ठित हुआ। इसीलिए हम देखते हैं कि उन दिनों के उत्कल प्रदेश के नास्तिकवादी आचार्य भी इस आस्तिकवादी आर्य-मार्ग का विरोध नहीं कर पाते थे। लोकनिंदा और लोक-लाज के भय से ही वे ऐसा नहीं कर पाते थे। शुद्ध धर्म के फैलाव के कारण ही ऐसा हुआ।

बुद्धवाणी से यह भी स्पष्ट होता है कि उन दिनों कुछ लोग आस्तिकवादी सदाचरण की महत्ता को तो स्वीकारते थे परंतु मरणोपरांत सुखदायी परलोक के अस्तित्व को स्वीकार करने में हिचकते थे। ऐसे लोगों को भगवान ने समझाया कि यदि तुम इसी जीवन को स्वीकार करते हो और परलोक को नहीं स्वीकारते तो भी शील-सदाचार का धार्मिक जीवन जीने से यहां तो सुखी रहोगे ही, साथ-साथ समाज के समझदार लोगों द्वारा प्रशंसित भी होओगे। इतना लाभ तो तुम्हें प्रत्यक्ष इसी जीवन में मिलेगा ही और यदि परलोक है, और जो सचमुच है ही, तो मरने के बाद वहां का सुख भी प्राप्त करोगे। यहां सदाचार का जीवन जीने में तुम कुछ खो तो नहीं ही रहे हो, बल्कि लाभान्वित ही हो रहे हो। अतः सदाचार का जीवन सर्वथा निर्दोष है और आशुफलदायी है। भगवान बुद्ध द्वारा प्रशिक्षित सदाचार की इस शिक्षा द्वारा तत्कालीन समाज पर नास्तिकवादियों की जकड़न दुर्बल हुई।

नास्तिकवाद का विरोध

दान, शील और परलोक

नास्तिकाचार्य दान देने और शील पालन करने को निरर्थक मानते थे। भगवान बुद्ध ने दान और शील पालन को महत्त्व दिया। सद्धर्म के संस्थापक सभी बुद्धों की भांति, भगवान गौतम बुद्ध ने भी यही उपदेश दिया –

दानं ददन्तु सद्धाय, सीलं रक्खन्तु सब्बदा।
भावनाभिरता होन्तु, एतं बुद्धान सासनं॥

-- *(धम्मवं०, पुब्बण्हसुत्तं ६)*

– सभी बुद्धों की यही शिक्षा है कि श्रद्धापूर्वक दान देना चाहिए। श्रद्धा इस माने में कि दान का अच्छा फल अवश्य मिलता है। उनकी यह भी शिक्षा है कि सदा शील-सदाचार का पालन करना चाहिए। इसमें परिपक्व होने के लिए समाधि और प्रज्ञा की अनुभवजन्य भावना करनी चाहिए, यानी, इनके अभ्यास को अनुभव में उतारते रहना चाहिए, जिससे कि ये **भावितो बहुलीकतो** यानी, अधिक मात्रा में अनुभवसिद्ध हो जायँ। बहुत मात्रा में बार-बार अनुभव पर उतरते-उतरते पुष्ट हो जायँ। इनके पुष्ट होने से शील-सदाचार स्वतः पुष्ट हो जायेंगे।

नास्तिक न लोक और परलोक के अस्तित्व को स्वीकारते थे और न वहां मिलने वाले कर्मफलों के अस्तित्व को। भगवान बुद्ध इन दोनों को स्वीकारते थे और सिखाते थे –

इध नन्दति पेच्च नन्दति, कतपुञ्ञो उभयत्थ नन्दति।

-- *(ध०प० १८, यमकवग्गो)*

– जो पुण्यकारी है, वह यहां इस लोक में भी आनंदित होता है, और मरणोपरांत परलोक में भी आनंदित होता है। दोनों जगह आनंदित होता है।

इध तप्पति पेच्च तप्पति, पापकारी उभयत्थ तप्पति॥

-- (ध०प० १७, यमकवग्गो)

– (इसके विपरीत) जो पापकारी है वह यहां भी संतापित होता है और मरणोपरांत परलोक में भी संतापित होता है। दोनों जगह संतापित होता है।

स्पष्ट है कि भगवान दान, शील-सदाचार, कर्मफल तथा इहलोक और परलोक को पूरा महत्त्व देते थे। नास्तिक आचार्य इन्हें नकारते थे इसीलिए नास्तिक थे। भगवान इन्हें स्वीकारते थे इसीलिए आस्तिक थे। बुद्ध जैसे आस्तिकवादी शास्ता की नास्तिकवादी खिल्ली उड़ाते थे। हमने देखा नास्तिकाचार्य अजित केसकंबल आस्तिकों को मूढ़ कहता था और दान देने तथा शील पालन करने का फल मरने के बाद प्राप्त होने के उनके कथन को तुच्छ और मिथ्या प्रलाप मानता था।

स्वच्छंद कामाचार का विरोध

गौतम बुद्ध के समय इन वाममार्गी गणाचार्यों द्वारा कामभोग-संबंधी स्वैराचार सुसंगठित रूप में सुप्रतिष्ठित हो चुका था। जहां सदाचार पालन का कोई अनुरोध न हो और उन्मुक्त कामभोग का विरोध न हो वहां नास्तिक आचार्यों का संघ बृहदाकार हो जाना स्वाभाविक था। सामान्य मानव को पशुवत भोगवृत्ति का पथ सदा आकर्षित करता रहा है। यह अनुमान भी गलत नहीं होगा कि लोगों को शील-सदाचार और यौन संबंध की छूट देने वाले ये आचार्य गृहत्यागी होते हुए स्वयं भी इस छूट का अधिक-से-अधिक उपयोग करते रहे होंगे। इस सदाचारशून्य नास्तिकवाद के प्रसार के कारण सद्धर्म का ह्रास हो रहा था, विनाश हो रहा था। सद्धर्म की हानि हो रही थी, ग्लानि हो रही थी। अधर्म का प्रभाव बढ़ रहा था। भगवान ने इस दूषित प्रभाव को दूर करने का भरपूर प्रयत्न किया।

दो अतियों को छोड़ कर आर्य मध्यम मार्ग

संबोधि प्राप्त करने के बाद भगवान बुद्ध ने जो प्रथम धर्म-उपदेश दिया उसे 'धर्मचक्रप्रवर्तन' कहा जाना सही था, सार्थक था। इस उपदेश के आरंभ में ही भगवान ने स्पष्ट रूप से कहा कि उन दिनों के गृहत्यागी आचार्य किस प्रकार इन दो अतियों के मार्ग पर चल पड़े थे।

एक तो यह जो – **'अत्तकिलमथानुयोगो दुक्खो अनरियो अनत्थसंहितो'** – देहदंडन का, आत्मपीड़न का मार्ग है, जो दुःखदायी है, अनार्यों द्वारा सेवित है, अनर्थकारी है।

और दूसरा – **'कामेसु कामसुखल्लिकानुयोगो हीनो गम्मो पोथुज्जनिको अनरियो अनत्थसंहितो।'**

-- (सं०नि० ३.५.१०८१, धम्मचक्कप्पवत्तनसुत्तं)

– यह जो कामभोग के कामसुख में तल्लीन रहना है, जो हीन है, ग्राम्य है, गँवारू है, पृथक-जनों द्वारा, अनार्यों द्वारा सेवित है और जो अनर्थकारी है।

भगवान ने इन दोनों अनार्यमार्गी अतियों को त्याग कर मध्यमीय आर्य मार्ग पर चलने का उपदेश दिया। भगवान बुद्ध ने इस आर्य मार्ग को प्रकाशित कर आदर्श आस्तिकवादी सत्य धर्म की पुनर्स्थापना की। पुनर्स्थापना इस माने में कि भगवान गौतम बुद्ध के पूर्व अन्य अनेक बुद्ध हो चुके थे। तीन सम्यक संबुद्ध ककुसंध, कोणागमन और काश्यप तो उनके पहले इसी कल्प में हुए थे। इनमें से पहले दो कपिलवस्तु के समीप ही जन्मे थे। सभी सम्यक संबुद्ध पुरातन सनातन आर्यधर्म की संस्थापना करते हैं। उनका आविर्भाव ऐसे समय में होता है जब कि शुद्ध सत्य धर्म का तीव्रगति से ह्रास होने लगता है। मुक्तिदायिनी विपश्यना विद्या संसार के मानव समाज से सर्वथा विलुप्त हो चुकी होती है। सद्धर्म के मूलाधार स्वरूप कर्मसिद्धांत की हानि होने लगती है। शील-सदाचार का विरोधी और कर्मानुसार कर्मफल प्राप्त होने की सच्चाई को नकारने वाला नास्तिकवाद प्रचलित हो जाता है। एक जन्म में ही सारे कर्मों का फल प्रकट न होने के कारण लोक-परलोक में पुनर्जन्म की जो सच्चाई है इसे नकारने के कारण

दुराचरण को बढ़ावा देने वाले इस नास्तिकवाद का प्रबल प्रचलन होने लगता है। इससे धर्म की हानि होने लगती है, ग्लानि होने लगती है। ऐसी अवस्था में किसी बोधिसत्व की सभी पुण्य-पारमिताएं परिपूर्ण होती हैं और वह अंतिम जन्म ग्रहण करता है। लुप्त हुई विपश्यना साधना की खोज करके स्वयं सम्यक संबोधि प्राप्त करता है और सम्यक संबुद्ध बन कर शुद्ध धर्म की पुनर्स्थापना करते हुए यही उपदेश देता है –

सब्बपापस्स अकरणं – सभी पापकर्मों से विरत रहना।

पापकर्म वह जो मन को मलिन करे और व्यक्ति को मलेच्छ बनाये।

कुसलस्स उपसम्पदा – पुण्यमय कुशल कर्मों से उपसंपन्न होना।

पुण्यकर्म वह जो मन को पुनीत करे और व्यक्ति को शुभेच्छु बनाये तथा

सचित्तपरियोदपनं – परिमित मात्रा में ही नहीं बल्कि परिपूर्ण मात्रा में अपने चित्त का शोधन करे।

एतं बुद्धान सासनं – यही बुद्धों की शिक्षा है।

-- *(ध०प० १८३, बुद्धवग्गो)*

यह सत्य सनातन आर्यधर्म की शिक्षा किसी एक बुद्ध द्वारा ही नहीं, बल्कि सभी बुद्धों द्वारा उपदिष्ट और अनुशासित की जाती है जिससे अपरिमित लोक-कल्याण होता है।

इस शिक्षा से उन दिनों प्रचलित नास्तिकवादियों की अहितकारिणी अमांगलिक शिक्षा पर कुठाराघात होता है। सर्वजनहितकारिणी आस्तिकवादी शिक्षा की स्थापना होती है। लोग नास्तिकता के चंगुल से बाहर निकलने के लिए मुक्ति का मार्ग प्राप्त करते हैं।

आस्तिकवादी मध्यम मार्ग

आस्तिकवादी आर्यमार्ग का आधार शील-सदाचार है। इसके लिए भगवान ने पंचशील का पालन करना सिखाया।

१. **पाणातिपाता वेरमणी** – प्राणी की हत्या से विरमण, यानी, विरत रहना।

हत्या करने के दोष दिखाकर ऐसी नास्तिकवादी शिक्षा से छुटकारा पाने के लिए इस शील को प्रतिष्ठित किया गया।

२. **अदिन्नादाना वेरमणी** – बिना दिये हुए लेने से विरमण, यानी, विरत रहना।

किसी के घर सेंध लगा कर चोरी करने, पराया धन लूटने, डाका डालने, बटमारी करने में कोई पाप नहीं है। इस नास्तिकवादी शिक्षा से छुटकारा पाने के लिए इस शील को प्रतिष्ठित किया गया।

३. **कामेसुमिच्छाचारा वेरमणी** – कामक्षेत्र में मिथ्याचरण, यानी, दुराचरण से विरत रहना।

परनारीगमन में कोई पाप नहीं है। इस नास्तिकवादी शिक्षा से छुटकारा पाने के लिए इस शील को प्रतिष्ठित किया गया।

सभी नास्तिकवादी आचार्य उन्मुक्त दैहिक कामोपभोग के सुख को ही जीवन का लक्ष्य मानते थे और समाज में इसके निर्बाध प्रचलन को प्रोत्साहित करते थे। इसे वे पाप नहीं मानते थे। पाप मानें तो उसके दु:खदायी फल को भी स्वीकार करना पड़े। सभी पापकर्मों का दुष्फल इसी जीवन में मिलता नहीं। अत: उसे भोगने के लिए पुनर्जन्म को भी स्वीकार करना पड़े। पुनर्जन्म इस लोक में भी हो सकता है और परलोक में भी। अत: इहलोक और परलोक को भी स्वीकार करना पड़े। आस्तिकवादियों की ये सभी मान्यताएं स्वीकारें तो स्वच्छंद कामसुखभोग की छूट कैसे ले सकें?

इसीलिए सभी नास्तिक आचार्य पाप-पुण्य के कुफल और सुफल भोगने के कर्म-सिद्धांत को नकारते थे। लोक-परलोक को नकारते थे। पुनर्जन्म को नकारते थे। जन्म से लेकर मृत्यु तक के जीवन को ही स्वीकारते थे। न इसके पहले और न आगे के अस्तित्व को स्वीकारते थे। अतः इसी प्रत्यक्ष वर्तमान जीवनकाल में स्वेच्छानुसार अधिक-से-अधिक सुखभोग को ही जीने की सार्थकता मानते थे। दैहिक कामभोग को ही सर्वोत्तम सुख मानते थे। वे स्वयं भी इस स्वेच्छाचारी कामाचरण में डूबे रहते थे और अपने अनुयायियों को भी इसी में निमग्न रहने की प्रेरणा देते रहते थे।

भगवान बुद्ध के आविर्भाव के समय यह वामाचार खूब फैल रहा था। इसे देख कर ही भगवान ने इस **कामेसु कामसुखल्लिकानुयोगो** (कामभोग को सुख मान कर उसमें लिप्त रहने) को उन दिनों की प्रचलित दो अतियों में से एक अति का मार्ग कहा, अनार्यों का मार्ग कहा, आर्यधर्म से दूर हुए पृथक-जनों का मार्ग कहा, हीन मार्ग कहा, मूर्खों का मार्ग कहा, अनर्थकारी मार्ग कहा।

यह तो कामसुख में डूबे रहने का एक अतियों वाला मार्ग था ही, परंतु साथ-साथ देहदंडन वाले दूसरे अतियों वाले मार्ग पर भी कामभोग की काली छाया छाई हुई थी। अतः **अत्तकिलमथानुयोगो** (आत्मक्लेश में लिप्त रहने) को भी दुःखद और अनर्थकारी अनार्य मार्ग ही कहा। शरीर को पीड़ित करते हुए कठोर तपश्चर्या करने वाले सब गृहत्यागियों का नहीं, परंतु अनेकों का लक्ष्य मरणोपरांत स्वर्ग-प्राप्ति का ही था। ऐसा स्वर्ग जहां अनुपम दिव्य सुरा-सुंदरियों के अपरिमित सुखों का उपभोग उपलब्ध होगा। ये गृहत्यागी ऐहलौकिक दांपत्य सुखभोगों को त्याग कर पारलौकिक सुखभोगों की कामनापूर्ति के लिए कष्टदायी अग्निचर्या और तपश्चर्या करते थे।

जटाधारी संन्यासी उरुवेल काश्यप भगवान बुद्ध के संपर्क में आने पर अपने दो भाइयों और एक हजार शिष्यों सहित, उनके बताये आर्यमार्ग पर चल कर उनका अनुयायी हो गया। भगवान के साथ राजगीर जाने पर मगधनरेश बिंबिसार और उसकी प्रजा के विशाल समूह के सामने उसने यह स्वीकार किया कि दिव्य रूप, शब्द और रस की कामना के लिए ही कठोर काम्येष्टि यज्ञ किया करता था। लेकिन भगवान बुद्ध की बतायी साधना

द्वारा इन ऐंद्रिय रसों से परे निर्वाण के परम सुख का साक्षात्कार किया तो वे कामसुख फीके लगने लगे। इसीलिए मैंने कठोर तपश्चर्या त्याग दी। भगवान बुद्ध के समय ऐसे अनेक लोग गृहत्यागी होकर भी पारलौकिक दिव्यांगनाओं के स्वर्गीय कामभोग के उद्देश्य से तपते थे।

यही नहीं, स्वर्ग की अप्सराओं के दिव्य कामभोगों की तीव्र लालसा होने के कारण अनेक राजा-महाराजा तथा अन्य महाधनी गृहस्थ अपने महलों में अनेक सुंदर रानियों, सुंदरी गृहिणियों और सुंदरी दासियों के साथ कामोपभोग करते हुए भी संतृप्त नहीं होते थे। पुरातन परंपरा के पवित्र हवन-यज्ञ के स्थान पर स्वार्थी पुरोहितों द्वारा गोमेध, अश्वमेध और नरमेध जैसे रक्तरंजित यज्ञ करवाते थे। यह अधर्म इसी मिथ्या उद्देश्य के लिए किया जाता था, जिससे कि मरणोपरांत स्वर्गगामी हों और वहां की अनुपम सुंदरी सुरांगनाओं के साथ रमण करते हुए दिव्य कामोपभोग का सुख भोग सकें। देवलोक की दिव्यांगनाओं के साथ कामभोग का यह मिथ्या आकर्षण कितना अधर्ममय था? कितना अनर्थ करवा रहा था? वे नहीं समझ पा रहे थे कि इस दुष्कर्म के फलस्वरूप उन्हें स्वर्गसुख नहीं, बल्कि नरक का दुःख भोगना पड़ेगा। तथागत ने मैत्री और करुणचित्त से संबंधित लोगों को समझा कर इस पापकर्म से बचाया और शुद्ध आस्तिक धर्म की स्थापना की।

तथागत ने इस तीसरे शील में गृहस्थों को पुष्ट किया ताकि वे **कामेसु कामसुखल्लिकानुयोगो** के अनार्य मार्ग से उन्मुक्त हों और व्यभिचार से विरत रहें। इसके अतिरिक्त उन्हें महीने के चार उपोसथ के दिनों ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना सिखाया। साथ-साथ विपश्यना विद्या के अभ्यास द्वारा दांपत्य जीवन में भी कामभोगों में संयम रखना सिखाया। कामभोग-संबंधी कमजोरियों को विपश्यना द्वारा दूर करना सिखाया।

४. मुसावादा वेरमणी – मिथ्या वचन से विरत रहने की शिक्षा।

नास्तिकों के प्रशिक्षण में अपना मतलब सिद्ध करने के लिए झूठ बोलना बुरा नहीं माना जाता था। इस दुःशील से बचने के लिए लोगों को इस शील में प्रतिष्ठित होने का प्रशिक्षण दिया गया। जब आर्यधर्म दुर्बल हो जाता है तब राज्यसुख के उपभोग के लिए छल-कपट और धोखे आदि के

द्वारा अपने स्वजन-परिजनों तक की हत्या की जाती है। भगवान के ममेरे भाई देवदत्त ने अपने शिष्य राजकुमार अजातशत्रु को उकसाकर उससे अपने पिता की हत्या का जघन्य पाप करवाया। स्वयं भिक्षुसंघ का अधिपति बनने के लिए भगवान की हत्या के लिए दो हत्यारों को नियुक्त किया और षड्यंत्र का ऐसा जाल बिछाया कि हत्या करके लौटते हुए उन दोनों की अन्य चार हत्यारे हत्या कर देंगे और लौटते हुए उन चारों की अन्य आठ हत्यारे हत्या कर देंगे और लौटते हुए उन आठों की अन्य सोलह हत्यारे हत्या करके तितर-बितर हो जायेंगे, जिससे कि न मूल हत्यारों की कोई शिनाख्त हो सकेगी और न धोखेबाज षड्यंत्रकारी की। ऐसे दुष्कर्मों से लोगों को बचाने के लिए इस शील का प्रशिक्षण दिया गया।

५. सुरामेरयमज्जप्पमादट्ठाना वेरमणी – सुरा, कच्ची शराब, मदिरा आदि से और जूए जैसे प्रमादकारी स्थलों से मुक्त रहने के लिए इस उत्तम शील की शिक्षा दी गयी। नास्तिकवादियों द्वारा "खाओ-पियो मौज करो" की अधार्मिक जिंदगी से लोगों को बचाने के लिए यह शील आवश्यक था। अन्य शीलों के पालन का दृढ़ निश्चय होते हुए भी नशे-पते की गुलामी में व्यक्ति दुःशीलता का नास्तिक कर्म कर बैठता है।

सम्यक आजीविका – इसके अतिरिक्त गृहस्थों को अपने, और अपने परिवार के भरण-पोषण के लिए शुद्ध आजीविका अपनाने की शिक्षा दी गयी। गलत तरीके अपनाकर धन कमाने के कुमार्ग पर न चले। स्वयं शील पालन करे तो भी धन कमाने के लिए किये गये दूषित व्यवसाय द्वारा नशीले पदार्थों का, शस्त्रों का, मांस का, प्राणियों के खरीद-फरोख्त का व्यवसाय न करे, जिससे अन्य लोगों को अपने शील भंग करने का प्रोत्साहन मिले। उन दिनों दास-दासियों के क्रय-विक्रय का व्यवसाय प्रचलित था। लोग दान में मिली बहुसंख्यक दासियों को बेचते थे, खरीददार उनसे घर का काम-काज करवाते थे। यह दुःशीलता का मार्ग था। भारत के ही नहीं, विश्व के इतिहास में ऐसी दूषित गुलामी प्रथा को दूर करने के लिए भगवान ने ही सब से पहला सफल कदम उठाया।

बुद्ध की प्रयोगात्मक विपश्यना विद्या

नास्तिक आचार्यों की जो अनर्थकारिणी शिक्षा थी, उसे बुद्ध ने थोथे बौद्धिक वाद-विवादों से ही मिथ्या सिद्ध नहीं किया, बल्कि प्रयोगात्मक विपश्यना विद्या सिखा कर उसका प्रबल रूप से खंडन किया।

नास्तिकवादी कहते थे कि पाप और पुण्य का कोई सुखद-दुःखद फल नहीं मिलता। भगवान ने विपश्यना विद्या सिखायी और लोगों ने अनुभव द्वारा जाना कि शरीर और वाणी के सभी कर्म पहले मन में उत्पन्न होते हैं। शरीर पर कोई संवेदना होती है, जिसके कारण मन सुखद या दुःखद अनुभूति करके प्रतिक्रिया करता हुआ पाप और पुण्यों का सृजन करता है। साधक विपश्यना की अनुभूति द्वारा भगवान के बताये हुए इस सत्य को खूब समझता है कि– **वेदनासमोसरणा सब्बे धम्मा**। यानी, मानस पर जो उभरें वे सब शरीर पर संवेदनाओं के रूप में प्रवाहमान होने लगते हैं।

-- *(अ०नि० ३.८.८३, सतिवग्गो)*

अध्यात्म जगत के उस महान वैज्ञानिक ने बिना किन्हीं वैज्ञानिक संयंत्रों के केवल ध्यान के बल पर जो महत्त्वपूर्ण खोज की वह सचमुच विस्मयजनक थी।

उसने दो प्रकार के सत्य प्रकट किये। एक को प्रज्ञप्त सत्य यानी प्रकट सत्य, भासमान सत्य कहा। वह सत्य जो स्पष्ट प्रतीत हो रहा है।

दूसरा परमार्थ सत्य यानी सही सत्य।

इन सच्चाइयों के आधार पर उसने खोज की कि हमारा भौतिक शरीर ही नहीं, बल्कि सारे ब्रह्मांड के जो भी भौतिक पदार्थ हैं वे ठोस प्रतीत होते हैं, पर वस्तुतः ठोस नहीं हैं। नन्हें-नन्हें परमाणुकणों से बने हैं, जिनमें ठोसपने का नामोनिशान नहीं है। सारे ब्रह्मांड में प्रतिक्षण प्रज्वलन और प्रकंपन हो रहा है।

हमारा मानस भी जब क्रोध, द्वेष, दुर्भावना आदि विकारों से ग्रस्त होता है तब लगता है कि वह घनीभूत है और ठोस हो गया है। वस्तुतः इसमें भी प्रज्वलन-प्रकंपन हो रहा है। चाहे कोई सजीव हो या निर्जीव, सभी मात्र तरंगें हैं। प्रतिक्षण उत्पन्न होते रहते हैं और नष्ट होते रहते हैं। किन्हीं दो क्षणों में एक-जैसी स्थिति नहीं रहती।

शरीर और चित्त के इस सतत प्रकंपन से प्राणी विभिन्न प्रकार की संवेदनाएं महसूस करता है जो कि सुखद होती हैं या दुःखद अथवा अदुःखद-असुखद।

ये संवेदनाएं जब सुखद लगती हैं तब प्राणी इनके प्रति राग जगाता है, जब दुःखद लगती हैं तब द्वेष जगाता है। जो सुखद लगती है वह कायम रहे, उसका बढ़ावा हो, वह कहीं नष्ट न हो जाय। इस माने में उसके प्रति राग की तृष्णा जगाता है। जो दुःखद लगती है वह दूर हो, उसका बढ़ावा न हो। इस माने में उसके प्रति द्वेष की तृष्णा जगाता है।

तृष्णा चाहे राग की हो या द्वेष की हो, तृष्णा तृष्णा है, वह प्राणी को दुःखी बना देती है।

दुःखद संवेदना तो स्पष्ट ही दुःखद है, परंतु सुखद संवेदना भी अनंत काल तक नित्य, शाश्वत, ध्रुव नहीं रहती। बदलती है तो दुःख में परिणत होती है और हमें दुःखी ही बनाती है। बदलते रहना इन संवेदनाओं का स्वभाव है। भौतिक शरीर और चित्त के संयोग से ही इनका जन्म होता है और ये दोनों प्रतिक्षण बदलते रहते हैं। शरीर और चित्त की भांति ये संवेदनाएं भी अनित्य हैं, नश्वर हैं, भंगुर हैं, परिवर्तनशील हैं।

इस महान वैज्ञानिक ने एक और अत्यंत महत्त्व की खोज की।

प्रज्ञप्त, यानी प्रकट सत्य, यह भ्रांति पैदा करता है कि हमारी इंद्रियों के विषय यानी आंखों के रूप, रंग, रोशनी, आकृति इत्यादि, कानों के शब्द, नाक की गंध, जीभ का रस और शरीर से किसी पदार्थ का स्पर्श होना हमें अच्छा लगता है तो राग जगाते हैं, बुरा लगता है तो द्वेष जगाते हैं। इस महान वैज्ञानिक ने यह खोज निकाला कि यह सही नहीं है। ऐसा सत्य जिसे उसके पहले उसने कभी नहीं सुना था और वह यह कि इन इंद्रियों के स्पर्श

से उनके प्रिय लगने पर राग और अप्रिय लगने पर द्वेष जागना – यह बहुत बड़ी भ्रांति है। सच्चाई यह है कि मन जब किसी ऐंद्रिय विषय से स्पर्श करता है तब अनिवार्य रूप से शरीर में कोई संवेदना जागती है। उस संवेदना के अच्छी लगने पर सुखद और बुरी लगने पर दुःखद, तथा इन संवेदनाओं के सुखद होने पर राग और दुःखद होने पर द्वेष जागता है। परिणामतः प्राणी दुःखी हो जाता है।

इस महान वैज्ञानिक ने एक बात और खोज निकाली कि इन पांचों इंद्रियों के अतिरिक्त मन भी एक महत्त्वपूर्ण इंद्रिय है। उसमें जब चिंतन चलता है और वह सुखद लगता है तो राग जागता है, दुःखद लगता है तो द्वेष जागता है। यह भी महज भासमान सत्य है। सच्चाई यह है कि जैसे ही मन में कुछ जागता है, तत्क्षण शरीर पर कोई संवेदना जागती है। यह प्रकृति का अटूट नियम है। यह हो नहीं सकता कि मन में कोई चिंतन जागे और शरीर पर कोई संवेदना न जागे। यानी मन में जो कुछ जागा, उसी के कारण राग, द्वेष की प्रतिक्रिया नहीं हुई, वरन शरीर पर जो संवेदना जागी, उससे राग और द्वेष जागा।

इस महान वैज्ञानिक ने रोग जान लिया, रोग का सही कारण जान लिया। अब इस महान वैज्ञानिक चिकित्सक ने दुःख और दुःख के कारण को जान लेना ही पर्याप्त नहीं समझा। यह तो खूब समझ में आया कि शरीर पर होने वाली संवेदनाओं के प्रति राग या द्वेष की तृष्णा जगाने से मानव रोगी बनता है, व्याकुल होता है। पर इसके निवारण का उपाय खोजना अधिक महत्त्वपूर्ण था। संवेदनाएं तो सारे शरीर में प्रतिक्षण होती ही रहती हैं। महत्त्वपूर्ण यह है उनके प्रति तृष्णा कैसे न जगाये। इसके लिए उन दिनो विलुप्त हुई भारत की अत्यंत पुरातन विपश्यना साधना की विधि खोज निकाली।

शरीर में जो स्थूल संवेदनाएं होती हैं जैसे – गर्मी, पसीना, भारीपन, दबाव, दुखाव, तनाव आदि; इनको जान लेना आसान है। परंतु सभी संवेदनाओं को जाने बिना रोग का इलाज नहीं। शरीर में न जाने कितनी अगणित प्रकार की संवेदनाएं चलती रहती हैं, उनके प्रति राग न जागे, द्वेष न जागे, तो छुटकारा हो। इसके लिए मन को एकाग्र करना आवश्यक है

और वह भी ऐसे एकाग्र हो कि अत्यधिक सूक्ष्म और तीक्ष्ण बन जाय, जिससे कि शरीर पर होने वाली सारी संवेदनाओं को अनुभव पर उतार सके।

शरीर पर कोई संवेदना होती है और मन प्रतिक्रिया करके पाप और पुण्य के कर्म उत्पन्न करता है। इनके कारण शरीर पर होने वाली वह संवेदना और सघन होती जाती है। इस प्रकार साधक अपनी अनुभूति द्वारा जानने लगता है कि बाहर की किसी घटना से शरीर पर जो संवेदना होती है उसके कारण मन जो प्रतिक्रिया करके पाप जगाता है, उससे स्वयं दुःखी होता है। वह खूब समझने लगता है कि शरीर और वाणी द्वारा दुष्कर्म करके किसी अन्य व्यक्ति को दुःखी करने के लिए अपने मन में क्रोध, द्वेष, दुर्भावना आदि दूषित कर्म-संस्कार जगा कर पहले अपने आपको दुःखी बना लेता है। शस्त्र द्वारा किसी की हत्या करने के पहले मन में दूषित विकार जगा कर पहले अपने भीतर अपनी सुख-शांति की हत्या कर लेता है। साधक को स्वानुभूति द्वारा भगवान की यह वाणी खूब समझ में आती है –

पुब्बे हनति अत्तानं, पच्छा हनति सो परे।

-- *(थेरगा० १३९, वसभत्थेरगाथा)*

– पहले अपनी हत्या करता है, बाद में किसी दूसरे की।

किसी की हत्या का दुःखद फल **अकालिको,** यानी, अभी मिलने लगा। दुष्कर्म के खारे बीज अभी हमें दुःखी बनाने लगे और उनका पका हुआ खारा फल भविष्य में भी दुःखी बनायेगा। इस सच्चाई को केवल सिद्धांतों के स्तर पर ही नहीं स्वीकार कर लिया जाता, बल्कि **सन्दिट्ठिको** यानी, तत्काल अनुभूति पर उतरता है। इसलिए साधक इसे स्वीकार करता है। शरीर और वाणी का कोई भी दुष्कर्म करे, पहले मन में विकार जगा कर स्वयं ही दुःख का अनुभव करता है। पाप का फल तत्काल मिलना आरंभ हो जाता है। जैसे दुष्कर्म वैसे सत्कर्म। शरीर से कोई सत्कर्म करे तो पहले मन में कुशल भाव जागते हैं। दान दे तो पहले मन में मैत्री, करुणा, सद्भावना जागती है। उसके तत्काल फल के रूप में सुखद अनुभूति होती है। पुण्य कर्म का फल तत्काल मिलना आरंभ हो जाता है।

यह कोरे सिद्धांतों की बात नहीं है। सच्चाई है जो साधक की अनुभूति पर उतरती है। विपश्यना की गहराइयों में जाने लगता है तो साधक स्वतः देखता है कि –

मनोपुब्बङ्गमा धम्मा, मनोसेट्ठा मनोमया।

– सारा प्रपंच मन का ही है। मन से ही कर्म आरंभ होता है। मन से ही उसका प्रत्यक्ष फल भुगतना शुरू हो जाता है।

पाप-पुण्य का फल आरंभ होकर ही नहीं रह जाता। साधक देखता है कि सचमुच –

मनसा चे पदुट्ठेन, भासति वा करोति वा।

– जब मैले चित्त के आधार पर वाणी या शरीर का कर्म किया जाता है,

ततो नं दुक्खमन्वेति, चक्कंव वहतो पदं॥

-- *(ध०प० १, यमकवग्गो)*

– तब उसके पीछे दुःख ऐसे ही लग जाता है जैसे कि बैलगाड़ी में जुते बैल के पीछे बैलगाड़ी का चक्का लग जाता है।

साधक यह भी स्पष्ट देखता है कि अप्रिय की अनुभूति से मन में एक बार जो मैल जगाया तो बार-बार अप्रिय की अनुभूति होते रहने के कारण, वह मन में उसी प्रकार के मैल जगाता चला जाता है। तब मन में मैल जगाने का वह स्वभाव पुष्ट होता जाता है और उसके साथ-साथ दुःख भी पुष्ट होता जाता है। ऐसे ही –

मनसा चे पसन्नेन, भासति वा करोति वा।

– निर्मल चित्त से वाणी या शरीर का कोई कर्म करता है, –

ततो नं सुखमन्वेति, छायाव अनपायिनी॥

-- *(ध०प० २, यमकवग्गो)*

– तब सुख उसके पीछे ऐसे ही हो लेता है जैसे कि कभी संग न छोड़ने वाली छाया उसके संग-संग चलने लगती है।

जैसे-जैसे निर्मल चित्त से कर्म करने का स्वभाव पुष्ट होता जाता है, वैसे-वैसे उसकी अनुभूति का सुखद फल साथ लग जाता है और पुष्ट होते जाता है।

भगवान ने ऋत, यानी, निसर्ग, के इस वैज्ञानिक सत्य को प्रज्ञापित करते हुए कहा –

चेतनाहं, भिक्खवे, कम्मं वदामि।

-- *(अ०नि० २.६.६३, निब्बेधिकसुत्तं)*

– हे भिक्षुओ, मैं चित्त की चेतना को ही कर्म कहता हूं।

वाचिक और कायिक कर्म तो चित्त की चेतना की संतानमात्र हैं। अच्छा विपश्यी साधक इस सच्चाई को स्वानुभूति से समझने और स्वीकारने लगता है। परिणामतः पाप-पुण्य का कोई फल नहीं, ऐसी नास्तिकों की मिथ्या मान्यता से अपने को बचा कर प्रबल आस्तिक बनता है।

लोक और परलोक की मान्यता

नास्तिक लोक और परलोक के अस्तित्व को नकारते हैं। आस्तिकवादी भगवान बुद्ध ने इनके अस्तित्व को केवल तर्कों द्वारा ही नहीं, बल्कि अनुभूति द्वारा सिद्ध करने के लिए साधकों को आवश्यक शिक्षा दी।

सभी मनुष्य वैज्ञानिक नहीं होते और सभी वैज्ञानिक अपनी वेधशाला में प्रकृति की अनजानी सच्चाई का अनुसंधान करके उसे उद्घाटित नहीं कर पाते। ऐसा काम बहुत थोड़े लोग ही कर पाते हैं। वैसे ही सभी मनुष्य विपश्यी साधक नहीं होते और सभी साधक उन गहराइयों तक नहीं पहुँच सकते, जहां कि लोक-परलोक की सच्चाइयों को अनुभूति द्वारा जान कर सिद्ध कर सकें। कुछ एक साधक विपश्यना की उन शीर्षस्थ ऊंचाइयों तक पहुँच कर, अरहंत अवस्था प्राप्त कर लेते हैं। तब उन सब की अनुभूतियां एक-जैसी होती हैं। अरहंत अवस्था पर पहुँचा हुआ साधक छह अभिज्ञान की सिद्धियां उपलब्ध कर लेता है। उनमें से एक है –

पुब्बेनिवासानुस्सति – यानी, पूर्वजन्मों की स्मृति। इस सिद्धि द्वारा वह देखता है कि वह अतीत काल में किन-किन जन्मों में किन-किन लोकों में-से गुजरता हुआ यहां तक पहुँचा है। यों पूर्वजन्मों की और लोकों की सच्चाई उसे अनुभूति द्वारा स्पष्ट होती है।

दूसरा अभिज्ञान है – **दिब्बचक्खु,** यानी **दिव्य दृष्टि**। इससे साधक अपने अभिज्ञान से देखता है कि एक मृत व्यक्ति मरने पर किस लोक में जन्मा। यों अनेक लोगों को भिन्न-भिन्न लोकों में जन्मते हुए देखता है; तब नास्तिकों का यह कथन कि लोक-परलोक नहीं है, मिथ्या साबित होता है।

उपरोक्त दोनों सिद्धियां अरहंत अवस्था में पहुँचने के पहले भी, गहरे ध्यान की अवस्था में ही कुछ लोगों को उपलब्ध हो जाती हैं। वैसे एक सामान्य साधक जब गहराइयों में उतरता है तब उसे भगवान की यह वाणी अनुभव द्वारा समझ में आने लगती है कि –

अपि चाहं, आवुसो, इमस्मिंयेव ब्याममत्ते कळेवरे ससञ्ञिम्हि समनके लोकञ्च पञ्ञपेमि लोकसमुदयञ्च लोकनिरोधञ्च लोकनिरोधगामिनिञ्च पटिपदन्ति।

-- *(सं०नि० १.१.१०७, रोहितस्ससुत्तं)*

– सारे लोक इसी साढ़े तीन हाथ की काया में समाये हुए हैं।

– अधोगति से लेकर अरूप ब्रह्मलोक के अग्रतम लोकों तक सभी इकत्तीस लोकों की अनुभूतियों में-से साधक गुजरता है। अधोलोकों में कितनी असह्य दुःखद अनुभूति होती है, इसका वह स्वयं साक्षात्कार करता है। कभी कामलोक की सुखद अनुभूति होती है, उसका साक्षात्कार करता है और कभी ब्रह्मलोकों की शांतिपरक स्थिति का साक्षात्कार करता है। यों अनुभूति द्वारा इन लोकों की उपस्थिति को स्वीकार करते हुए इन नास्तिकों के जंजाल से मुक्त होता है।

कोई एक नास्तिक आचार्य जब यह घोषणा करता है कि संसार में कोई भी श्रमण-ब्राह्मण ऐसा नहीं है जो कि अपने अभिज्ञान द्वारा परलोक की सच्चाई को अनुभूतियों पर उतार कर व्यक्त कर सके, नास्तिकों का यह कथन भी भगवान की इस विद्या से मिथ्या साबित होता है।

कर्मानुकूल फल की मान्यता

कोई एक नास्तिक कहता है कि कोई भी व्यक्ति अपने कर्म के फलों को स्वयं पका कर उनसे मुक्त नहीं होता। उसका यह कहना भी मिथ्या साबित होता है, जब कि एक विपश्यी साधक अपनी साधना द्वारा देखता है कि किस प्रकार पूर्व-संचित कर्म-संस्कारों की उदीर्णा होती है और विपश्यना द्वारा समता में स्थित रहने पर उनकी निर्जरा होती है, क्षय होता है। इस प्रकार उन-उन कर्म-संस्कारों से और तज्जन्य स्वभावों से मुक्ति प्राप्त होती है। आगे जाकर नितांत मुक्त अवस्था तक पहुँचते-पहुँचते सारे कर्म-संस्कारों से छुटकारा पा लेता है। **विसङ्खारगतं चित्तं,** यानी, चित्त सारे कर्म-संस्कारों से विहीन हो जाता है। ऐसी अवस्था में **खीणं पुराणं नव नत्थि सम्भवं --** (*खुद्दक० ६, रतनसुत्तं*) – सारे पुराने कर्म-संस्कार नष्ट हो गये होते हैं और

नये बन नहीं पाते हैं – यही भवमुक्त अवस्था है। एक विपश्यी साधक इसे जानता-समझता हुआ नास्तिकों के मिथ्या मत में नहीं उलझता।

अन्य मिथ्या मान्यताओं का उन्मूलन

एक नास्तिक आचार्य **मक्खलि गोसाल** यह सिखाता था कि मुक्ति के लिए किये गये सारे परिश्रम-पुरुषार्थ व्यर्थ हैं। कोई भी व्यक्ति स्वयं परिश्रम करके अपने कर्मों का क्षय नहीं कर सकता। न ही कोई अन्य उसे मुक्त कर सकता है। अमुक संख्या के कल्पों तक, अमुक संख्या की योनियों में से सभी प्राणियों को अनिवार्यतः गुजरना पड़ता है। तदनंतर वे अपने आप मुक्त हो जाते हैं। इसके पहले मुक्त नहीं हो सकते। भगवान ने इस नास्तिक आचार्य के मत को मिथ्या सिद्ध किया। आशुफलदायिनी विपश्यना विद्या के अभ्यास द्वारा साधक अधोगति की ओर ले जाने वाले अपने सभी पूर्व-संचित कर्मों की उदीर्णा कर-करके उनकी निर्जरा कर लेता है, उनका क्षय कर लेता है और स्रोतापन्न अवस्था को प्राप्त कर लेता है। यानी, अब उसके पास अधोगति की ओर ले जाने वाला कोई दूषित कर्म-संस्कार नहीं बचा, सभी का क्षय हो गया तथा अधोगति की ओर ले जाने वाले नये संस्कार बनाने का स्वभाव तक छूट गया। इस प्रकार अधोगति से सर्वथा मुक्त हो गया। विपश्यना साधना के प्रभाव से आगे बढ़ते हुए सभी कामलोकों में जन्म देने वाले कर्म-संस्कारों को भी क्षय करके कामलोकों से मुक्ति पा लेता है और उसके आगे रूप ब्रह्मलोक और अरूप ब्रह्मलोकों में जन्म देने वाले सभी कर्म-संस्कारों का भी क्षय करके सभी इकत्तीस लोकों में जन्म लेने से मुक्ति पा लेता है। अब उसके पास कोई कर्म-संस्कार नहीं बचा रहता, जो कि उसे किसी लोक में जन्म दे सके और न ही वह ऐसा कोई नया जन्मदायी कर्म कर पाता है। इसे ही कहा गया – **खीणं पुराणं, नव नत्थि सम्भवं**। तब वह उस नितांत मुक्त अवस्था को प्राप्त कर लेता है, जहां चित्त सभी कर्म-संस्कारों से मुक्त हो चुका होता है – **विसङ्खारगतं चित्तं**। ऐसा व्यक्ति भव-संसरण से सर्वथा विमुक्त हो जाता है।

सच्चाई तभी सच्चाई होती है जब कि एक से अधिक लोग उसे अनुभूति पर उतार लेते हैं। भगवान के जीवनकाल में विपश्यना विद्या के

अभ्यास द्वारा सैंकड़ों लोगों ने इस अवस्था को प्राप्त कर ऐसे उद्गार प्रकट किये – **अयमन्तिमा जाति** – यह मेरा अंतिम जन्म है। **चरिमो वत्तते भवो** – यह मेरा अंतिम भव है। **नत्थिदानि पुनब्भवोति** – अब पुनः जन्म नहीं होगा।

इस प्रकार भगवान के अनेकों शिष्यों ने विपश्यना के परिश्रम-पुरुषार्थ द्वारा इसी जीवन में भवसंसरण से मुक्त होने की सफलता सिद्ध करके, उस नास्तिक आचार्य की मिथ्या मान्यता का उन्मूलन किया।

एक और नास्तिक आचार्य प्रक्रुध कात्यायन कहता था कि किसी का सिर काट देने से उस व्यक्ति की मृत्यु नहीं होती। ऐसा करने पर सिर काटने वाले को हत्या का पाप नहीं लगता। क्योंकि जिसका सिर काटा गया, उसका सारा शरीर पृथ्वी, अग्नि, जल, वायु के परमाणुओं से बना है और ये परमाणु नित्य हैं, शाश्वत हैं, ध्रुव हैं, अजर हैं, अमर हैं। इसी तरह उस शरीर के भीतर रहने वाला जीव भी अजर है, अमर है, नित्य है, शाश्वत है, ध्रुव है, कूटस्थ है। जब किसी व्यक्ति पर शस्त्र से आघात किया जाता है तब वह शस्त्र इन अविनाशी परमाणुओं के बीच में जो पोल है उसमें से गुजर जाता है। उस प्राणी का कुछ नहीं बिगड़ता। अतः अपना सांसारिक स्वार्थ सिद्ध करने के लिए चाहे जितने प्राणियों की हत्या करें, इसमें कोई पाप नहीं है, क्योंकि इस हत्या से किसी का प्राणहनन तो होता नहीं। इस प्रकार की नासमझीभरी मान्यता को असत्य साबित करने में कोई कठिनाई नहीं हुई होगी। क्योंकि जिस पर शस्त्र का आघात किया जाता है, वह प्राणी मरने के पहले घायल अवस्था में कितना तड़पता है। यदि उसका शरीर अजर है, अमर है; उसके भीतर का जीव अजर है, अमर है तो इस आघात से पीड़ा किसे होती है? क्यों होती है? मरने वाले को पीड़ा बिल्कुल नहीं होनी चाहिए। लेकिन पीड़ा तो होती हुई स्पष्ट दीखती है।

इस घातक मिथ्या मान्यता का उन्मूलन करने में भगवान की सिखायी हुई विपश्यना साधना ने प्रभावशाली काम किया। इतना तो सभी समझ सकते हैं कि किसी की हत्या करने के लिए पहले अपने मानस में द्वेष, द्रोह और दुर्भावना के विकार जगाने होते हैं। विपश्यी इस तथ्य को अनुभूति के स्तर पर खूब समझ लेता है कि जैसे ही ये विकार जागते हैं वैसे ही शरीर में अत्यंत दुःखद संवेदना होने लगती है। शरीर में प्रज्वलन की अनुभूति होने

लगती है। स्पष्ट समझ में आता है कि यह द्वेषाग्नि का कर्मबीज है जो निसर्ग के नियमों के अनुसार बढ़ते-बढ़ते नारकीय अग्नि का फल प्रदान करेगा। ठीक वैसे ही जैसे कि खारे नीम का बीज बोने पर अंकुरित और प्रस्फुटित होकर बढ़ते-बढ़ते नीम के पेड़ के रूप में प्रकट होता है, जिसका कि रेशा-रेशा खारा होता है। यों विपश्यना की स्वानुभूति द्वारा इस नास्तिक मत का निर्मूलन किया गया।

एक नास्तिक आचार्य कर्मफल और पुनर्जन्म को नकारता था। वह आस्तिकवादियों की खिल्ली उड़ाते हुए कहता था कि कर्मों का फल भोगने के लिए भस्मीभूत शरीर का न इस लोक में जन्म होता है, न परलोक में। वह यह भी दावे के साथ कहता था कि संसार में एक भी ऐसा श्रमण या ब्राह्मण नहीं है जिसने परलोक की सच्चाई स्वयं देख कर व्यक्त की हो। भगवान ने विपश्यना द्वारा अनेक साधकों को पूर्वजन्म की स्मृति तथा दिव्यचक्षु का अभिज्ञान जगा कर लोक-परलोक और जन्म-जन्मांतरों में भोगे जाने वाले कर्मफलों की सच्चाई सिद्ध की।

इस प्रकार विपश्यना विद्या के अभ्यास द्वारा अनेकों की अनुभूतियों के बल पर वैज्ञानिक ढंग से नास्तिकों की सभी मिथ्या मान्यताओं का निराकरण हुआ।

विपश्यना का सक्रिय अभ्यास

नास्तिक आचार्यों के हानिकारक मिथ्या मतों का निराकरण कोरे तर्क-वितर्क और वाद-विवाद द्वारा नहीं किया गया। क्योंकि इससे समस्या का सही समाधान नहीं होता। भगवान बुद्ध द्वारा सिखायी गयी विपश्यना की क्रियात्मक शिक्षा ने सहज ही गलत को गलत सिद्ध कर दिया।

भगवान बुद्ध ने केवल बौद्धिक स्तर पर सच्चाई को समझने के लिए ही धर्म के उपदेश नहीं दिये। उनके उपदेश परियत्ति, यानी, सिद्धांतों को सिद्ध करने के लिए नहीं होते थे, बल्कि पटिपत्ति, यानी, प्रतिपादन करने के लिए होते थे; जिससे कि सच्चाई अनुभूति के स्तर पर जानी जा सके।

उन्होंने बहुत स्पष्ट शब्दों में कहा –

"गिहिस्स वाहं, माणव, पब्बजितस्स वा सम्मापटिपत्तिं वण्णेमि।"

-- *(म०नि० २.४६३, सुभसुत्तं)*

– मैं गृहस्थों और प्रव्रजित गृहत्यागियों को सम्यक रूप से धर्म प्रतिपादन करना सिखाता हूं।

यदि धर्म प्रतिपादित नहीं होता तो उनकी शिक्षा अधूरी होती, निष्फल होती। हितकारी होने के स्थान पर अनर्थकारी होती।

उन्होंने इस संबंध में बहुत स्पष्ट शब्दों में कहा –

"इध, भिक्खवे, एकच्चे मोघपुरिसा धम्मं परियापुणन्ति... पञ्ञाय अत्थं न उपपरिक्खन्ति। तेसं ते धम्मा पञ्ञाय अत्थं अनुपपरिक्खतं न निज्झानं खमन्ति।... तेसं ते धम्मा दुग्गहिता दीघरत्तं अहिताय दुक्खाय संवत्तन्ति।"

-- *(म०नि० १.२३८, अलगद्दूपमसुत्तं)*

– जो मेरे उपदिष्ट धर्मों को कंठस्थ तो कर लेते हैं परंतु न प्रज्ञा द्वारा उन्हें परखते हैं और न ध्यान द्वारा उन्हें अनुभूति पर उतारते हैं, ऐसे लोगों

के लिए धर्म दुर्गृहीत होने के कारण चिरकाल तक अहितकारी और दुःखदायी होता है।

भगवान की वाणी की यह सच्चाई सभी परंपरा के उपदेशों पर लागू होती है। उदाहरणस्वरूप हमारी वैदिक परंपरा के पुरातन ग्रंथों में अनेक कल्याणकारी उपदेश दिखाई देते हैं।

ऋग्वेद में बहुत-से सूक्त हैं जिनके अनुसार जीवन को सुधारने की बहुत प्रेरणा मिलती है। यही कारण है कि चिरकाल से इनकी मान्यता है और आज भी समाज के एक बड़े वर्ग में इनकी बहुत प्रतिष्ठा है। इन्हीं में से एक सूक्त **'अक्ष सूक्त'** -- (१०.३४) नाम से विख्यात है। इसमें पासों से जुआ खेलने के दोषों को बड़े मार्मिक ढंग से समझाया गया है, जिसे पढ़ कर जुए के प्रति जुगुप्सा जागती है। इसमें बतलाया गया है कि जुआ खेलने से यहां तक नौबत आ जाती है कि अपनी पतिव्रता पत्नी को त्यागना पड़ जाता है। अतः जुआ मत खेलो, कोई भी मेहनत का काम करो – (जैसे, खेती)।

महाभारत के मुख्य पात्रों – कौरवों तथा पांडवों – ने भी अपनी शिक्षा-दीक्षा के अंतर्गत अन्य ग्रंथों के अतिरिक्त वेदों का अध्ययन किया था और ऐसा कोई कारण नहीं दीखता कि उन्होंने ऋग्वेद के ऊपर दिये गये सुविख्यात सूक्त का अध्ययन न किया हो। फिर भी इसका उन पर कोई असर नहीं हुआ और उन्होंने जुआ खेला ही। और उसका क्या दुष्परिणाम हुआ, यह हम सब को विदित ही है – पांडवों ने राजपाट के इलावा अपनी पतिव्रता पत्नी को भी दांव पर लगाया और (उसे भी) जुए में हार गये। इससे यह जिज्ञासा होती है कि वेद-सरीखे पवित्र ग्रंथ के उपदेश का इन पर असर क्यों नहीं हुआ?

इसी प्रकार हम देखते हैं कि महाभारत का ही एक अंग मानी जाने वाली गीता में स्थितप्रज्ञता का गंभीर आदेश दिया गया है। उसके लक्षण बताये गये हैं। उसके गुण गाये गये हैं। परंतु बिना अभ्यास किये कोई स्थितप्रज्ञ कैसे हो?

विपश्यना का अभ्यास करने वाला जान लेता है कि केवल उपदेश को पढ़-सुन लेने से बात बनती नहीं। बात तभी बनती है जब उस उपदेश को जीवन में उतार लिया जाय, अर्थात उसे जीवन का अंग बना लिया जाय। प्रासंगिक उपदेश को जीवन का अंग ऐसे बनाते हैं–

लोगों को तीन सीढ़ियां चढ़नी पड़ती हैं। शील में प्रतिष्ठित होना, चित्त को एकाग्र करना और विपश्यना द्वारा चित्त में बुरे संस्कार बनने न देना और यदि पहले से विद्यमान हों तो उन्हें निकाल बाहर करना। जुए को लेकर शील के अंतर्गत साधक यह संकल्प करता है–

'... पमादट्ठाना वेरमणी सिक्खापदं समादियामि।'

– ... प्रमाद (अर्थात, जुए आदि) के स्थान से विरत रहने के शिक्षापद को ग्रहण करता हूं।

केवल यह संकल्प करने से बात बनती नहीं। यह तो केवल पहली सीढ़ी है। इससे अगली सीढ़ी चढ़ना जरूरी होता है। वह है चित्त को एकाग्र करना जिससे इसी संकल्प में दृढ़ता आये और यह ठोस आकार में परिणत हो सके। इसके लिए 'आनापानसति' का अभ्यास करना होता है, अर्थात स्वाभाविक रूप से नासिका से आने-जाने वाले सांस को जानने का अभ्यास करना होता है। चूंकि अपने ही सांस को जानने का अभ्यास करना होता है, अतः इसमें किसी भी मत-मतांतर के व्यक्ति को तनिक भी ऐतराज नहीं होता। इस अभ्यास से कोई भी संकल्प दृढ़ से दृढ़तर होता चला जाता है। पर अभी भी बात पूरी तरह से नहीं बनती।

एक और सीढ़ी भी चढ़नी पड़ती है जो तीसरी और अंतिम सीढ़ी होती है। इसे 'विपश्यना' कहते हैं। इसके अंतर्गत मन को शरीर के भीतर ले जाकर संवेदनाओं के स्तर पर आंतरिक सच्चाइयों को परखना होता है, जिससे शनैः शनैः चित्त में नये दुर्गुण बनते नहीं और पूर्व-संचित स्वतः ही निकलने लगते हैं। अंततः चित्त सभी दुर्गुणों से छुटकारा पाकर नितांत निर्मल हो जाता है।

इस प्रक्रिया के फलस्वरूप जो शील-व्रत लिया था वह पुष्ट हो जाता है और जीवन का अंग बन जाता है। समय पकने पर साधक देखता है कि

शुरू-शुरू में वह जिस शील को निभाने का संकल्प करता वह 'वारित' होता है, अर्थात दुष्प्रवृत्ति से विरत रहने के लिए उसे कुछ प्रयास करना पड़ता है। परंतु विपश्यना के नियमित अभ्यास से वह 'चारित' हो जाता है, अर्थात, वह जीवन के चरित्र का रूप ग्रहण कर लेता है। दूसरे शब्दों में वह शील उसके जीवन का अंग बन जाने से, उसके पालन के लिए कुछ नहीं करना पड़ता और उसके मन में शील को तोड़ने का चिंतन तक नहीं जागता। प्रस्तुत प्रकरण में विपश्यना का नियमित अभ्यास करने पर जुआ खेलने वाला व्यक्ति यह सोच भी नहीं सकता कि मुझे जुआ खेलने का उपक्रम करना चाहिए अथवा जुए के अड्डे पर जाना चाहिए। बस, काम बन गया। यदि महाभारत के पात्रों ने वेद के पावन उपदेश को शील, समाधि और प्रज्ञा के सक्रिय अभ्यास द्वारा अपने जीवन का अंग बना लिया होता तो आज भारत के इतिहास का वह पृष्ठ इतना कलुषित न होता।

भगवान बुद्ध का यथार्थवाद

भगवान बुद्ध ने जिन पांच भिक्षुओं को पहले-पहल धर्म सिखाया, और जो पांचों-के-पांचों अरहंत हो गये, उनमें सबसे छोटा था भिक्षु अश्वजित (अस्सजित)। एक समय भिक्षु अश्वजित भिक्षाटन के लिए बाहर निकलता है। उसके चेहरे पर अमित ओज है, अमित तेज है, अमित शांति है, अमित कांति है। नजर नीची किये हुए भिक्षाटन के लिए जा रहा है। सारिपुत्त नाम का व्यक्ति जो कि बहुत धनवान ब्राह्मण घर में जन्मा और मुमुक्षुभाव जागा तो मुक्ति की खोज में घरबार छोड़ कर संन्यासी बन गया था। उसे अब तक मुक्ति का मार्ग नहीं मिला था। वह भिक्षु अश्वजित को देखता है, तो बहुत आकर्षित होता है। उसे पूछता है, "भंते, मुझे यों लगता है कि आपको जो प्राप्त करना था सो कर लिया। क्या यह सच है?"

वह उत्तर देता है, "हां भाई, सच है। मनुष्य जीवन में जो सबसे ऊंची अवस्था प्राप्त की जा सकती है वह मैंने प्राप्त कर ली। मुझे प्राप्तव्य प्राप्त हो गया। मैं कृतकृत्य हो गया।"

"तो बताइये, भंते, आपका गुरु कौन है? और बताइये उसका क्या वाद है?"

"अरे, मैं क्या बताऊं? स्वयं सिखाने वाले इस समय इसी नगरी में आये हुये हैं। सिद्धार्थ गौतम, जो बुद्ध हो गये, सम्यक संबुद्ध हो गये, उन्हीं से मैंने यह विद्या सीखी, जिससे मैं मुक्त हुआ। तुम उन्हीं के पास जाकर सीखो।"

"हां भंते! सीखूंगा उनके पास जाकर। लेकिन इतनी देर का भी मुझे धैर्य नहीं है। अतः भले थोड़े से शब्दों में, इतना ही बता दीजिये कि उनका वाद क्या है?"

तो यह मुस्कराता है और थोड़े में ही समझाता है –

ये धम्मा हेतुप्पभवा, तेसं हेतुं तथागतो आह।
तेसञ्च यो निरोधो, एवंवादी महासमणो॥

-- *(विनय०, महावग्ग, ६० सारिपुत्तमोग्गल्लानपब्बज्जाकथा)*

– यह महाश्रमण है। अगर इसका कोई वाद मानते हो, इसे वाद ही कहते हो तो सुनो भाई! वाद यही है कि जो-जो चित्तवृत्ति कारणों से उत्पन्न होती है, उसने उन कारणों को यथार्थतः जान लिया और उन कारणों के निरोध होने का तरीका भी यथार्थतः जान लिया। यह उत्पत्ति है, यह उत्पत्ति का कारण है और यह इस कारण के निवारण का उपाय है। बस, यही सिखाते हैं, यही आख्यात करते हैं।

सचमुच भगवान बुद्ध का दार्शनिक वाद-विवादों वाला कोई वाद नहीं था। अपनी मान्यता को अंधश्रद्धा से मान लिये जाने का उनका आग्रह नहीं था। वे सिखाते थे कि हर मुमुक्षु को स्वयं अपने अनुभवजन्य सत्य के आधार पर अनुसंधान करते हुए परम सत्य की खोज करनी होती है। किसी एक मान्यता को, किसी एक दार्शनिक वाद को माननेमात्र से हमारी मुक्ति नहीं होती।

वाद का एक और अर्थ है कथन। शिक्षा के अर्थ में भी वाद का प्रयोग होता है। भगवान बुद्ध का वाद, यानी, उनकी शिक्षा का यह कथनमात्र था। वे प्रत्यक्ष अनुभूति के आचार्य थे। उनकी शिक्षा को ठीक-ठीक समझते हुए उनके कथन को अगर कहीं वाद कहा गया तो इसी अर्थ में कहा गया है, दार्शनिक वाद-विवाद के अर्थ में नहीं। उनका वाद अपने अनुभवों पर आधारित यथाभूत सत्य का कथनमात्र था।

भगवान मौन रहे

बुद्धवाणी में केवल एक प्रसंग ऐसा आता है जहां किसी के सार्थक प्रश्न किये जाने पर भी भगवान मौन रहे जब कि ऐसे प्रश्नों का उत्तर वे सदा देते थे। इसी पर आनंद ने भगवान से पूछा कि आप क्यों मौन रहे?

प्रसंग ऐसा उपस्थित हुआ जब कि परिव्राजक वत्सगोत्र (वच्छगोत्त) भगवान के पास आया। उसने दो प्रश्न किये– क्या अस्तिता है? क्या

नास्तिता है? भगवान इन प्रश्नों का सविस्तार उत्तर दे सकते थे। देते आये थे। परंतु परिव्राजक वत्सगोत्र न मुमुक्षु था, और न जिज्ञासु। वह विवादी था। इसलिए स्पष्ट नहीं पूछा कि किसका अस्तित्व और किसका अनस्तित्व? उसका उद्देश्य था कि भगवान उसे हां या ना का उत्तर दें जिससे कि वह विवाद खड़ा कर सके। भगवान उसके चित्त के भाव को जान रहे थे। यदि वे अस्तिता को स्वीकारते तो वह भगवान को शाश्वतवादी कह कर, और नास्तिता को स्वीकारते तो उच्छेदवादी कह कर, उन पर मिथ्या लांछन लगाते हुए अकुशल कर्म करता। अपना ही अहित करता। इसलिए भगवान मौन रहे।

उन दिनों शाश्वतवाद नास्तिकों का मत था और इसलिए नितांत निंदनीय शब्द माना जाता था। नास्तिकवादी आचार्य मानते थे कि प्राणी का चातुर्भौतिक शरीर और उसके भीतर का जीव शाश्वत है, अमर है और अविनाशी है। अतः उसकी हत्या करने से कोई पाप नहीं होता। अतः अस्तिता को स्वीकारने से भगवान बुद्ध पर शाश्वतवादी नास्तिक होने का मिथ्या आरोप लगता। इससे प्रश्नकर्ता दोष का भागी होता। इस कारण भगवान मौन रहे।

इसी प्रकार उन दिनों उच्छेदवाद भी नास्तिकों का मत था और इसलिए नितांत निंदनीय शब्द माना जाता था। नास्तिक आचार्य मानते थे कि मरने के बाद पुनर्जन्म नहीं होता। मरने पर प्राणी का सर्वथा उच्छेद हो जाता है। इसलिए नास्तिता को स्वीकारते तो भगवान पर उच्छेदवादी नास्तिकता का मिथ्या आरोप लगता। इससे प्रश्नकर्ता दोष का भागी होता। इस कारण उसके भले के लिए भगवान मौन रहे।

भगवान बुद्ध यथार्थतः अनात्मवादी थे, निरीश्वरवादी थे

भारत से मूल बुद्धवाणी और विपश्यना साधना दोनों के लुप्त हो जाने पर भगवान बुद्ध के बारे में जो अनेकानेक मनगढ़ंत बातें प्रचलित कर दी गयीं, उनमें से एक यह है कि जब भगवान से आत्मा या परमात्मा के बारे में कोई प्रश्न करता तो वे 'हां' या 'ना' का उत्तर न देकर, मौन हो जाते।

इसका एक गलत अर्थ यह लगाया गया कि इस बारे में वे सर्वथा अनभिज्ञ थे, इसलिए मौन हो जाते थे। दूसरा गलत अर्थ यह कि इन दोनों की सच्चाई का विरोध करने के लिए उनके पास कोई तर्क नहीं था, इसलिए वे निरुत्तर हो जाते थे, मौन हो जाते थे। इस विषय में जरा-भी चर्चा नहीं करते थे।

वास्तविकता यह है कि आत्मा और परमात्मा के अनस्तित्व के बारे में उन्होंने बहुत स्पष्ट शब्दों में, एक बार नहीं, अनेक बार कहा था। लेकिन यह भी सच है कि कुछ प्रश्नों के उत्तर वे नहीं देते थे। उन्हें अव्याकृत, यानी, 'उत्तर देने योग्य नहीं हैं' यूं कह कर टाल देते थे। वे प्रश्न थे–

१) लोक शाश्वत है या अशाश्वत?

२) लोक अनंत (असीम) है, या अंतवान (ससीम)?

३) मरणोपरांत तथागत रहते हैं या नहीं रहते?

४) जीव और शरीर एक ही हैं या अलग-अलग?

भगवान ने इन चारों प्रश्नों के बारे में कहा कि ये न अर्थयुक्त हैं, न धर्मयुक्त, न मुक्ति के लिए हैं, न मोक्ष के लिए, न निर्वाण के लिए। अतः अव्याकृत हैं। व्याकरण के योग्य नहीं हैं। व्यक्त करने योग्य नहीं हैं। भगवान ने कहा जो बातें अर्थयुक्त हैं, धर्मयुक्त हैं, मुक्ति मोक्ष निर्वाण के लिए हैं, उन्हें मैं खूब व्याकृत करता हूं जैसे कि–

यह दुःख है। यह दुःख का कारण है। यह दुःख का निवारण है और यह निवारण का उपाय है। इन चारों की मैं भलीभांति व्याख्या करता हूं। सचमुच इन चारों सार्थक विषयों पर भगवान ने हजारों प्रवचन दिये ताकि इनके बारे में कोई अस्पष्टता न रह पाय। सार्थक को छोड़ कर निरर्थक की, प्रासंगिक को छोड़कर अप्रासंगिक की चर्चा भगवान क्यों करते भला!

एक बार भगवान अपने भिक्षुसंघ के साथ यात्रा कर रहे थे। एक वन-प्रदेश में कुछ देर किसी पेड़ के नीचे विश्राम के लिए बैठ गये। भिक्षुसंघ भी बैठ गया। उन्होंने जमीन पर पड़े हुए कुछ सूखे पत्ते अपने मुट्ठी में लिये और कहा, "भिक्षुओं! मेरी मुट्ठी में जितने पत्ते हैं इनकी संख्या अधिक है या इस महावन में जो अनेक वृक्ष हैं उन पर लगे पत्तों की?" भिक्षुओं का सहज

उत्तर था, "भंते भगवान! आपकी मुट्ठी में जो पत्ते हैं उनकी संख्या इस महावन के पत्तों की अपेक्षा नगण्य है।"

तब भगवान ने कहा कि मेरी जानकारी इस महावन के पत्तों की तरह अथाह है, लेकिन इस वन की असंख्य पत्तियों के मुकाबले मेरी हथेली में जो थोड़ी-सी पत्तियां हैं, उतनी थोड़ी-सी बातें ही मैं तुम्हें बताता हूं क्योंकि वही तुम्हारे काम की प्रासंगिक बातें हैं। अन्य निरर्थक अप्रासंगिक बातों में मैं न अपना समय नष्ट करता हूं, न तुम्हारा।

अनात्मवादी बुद्ध

लोक-कल्याण के लिए जो कहना आवश्यक था, उपयोगी था उसे भगवान ने स्पष्ट शब्दों में कहा, बार-बार कहा। आत्मा के अस्तित्व को अस्वीकार करते हुए भगवान ने अपनी वाणी में अनात्म की सच्चाई को एक-दो नहीं, सौ नहीं, सैकड़ों बार वर्णन किया है। उन्होंने अनेक अवसरों पर यह स्पष्ट कहा –

रूप (यानी, शरीर) मैं नहीं, मेरा नहीं, मेरी आत्मा नहीं। नाम यानी, चित्त और उसके चारों स्कंध[१] – विज्ञान, संज्ञा, वेदना, संस्कार; मैं नहीं, मेरा नहीं, मेरी आत्मा नहीं।

उन्होंने यह भी बहुत स्पष्ट रूप से कहा कि भीतर या बाहर, स्थूल या सूक्ष्म, उत्कृष्ट या निकृष्ट, दूर या समीप; जो भी भूत, भविष्य, वर्तमान का रूप (शरीर) और नाम (चित्त) है, वह मैं नहीं हूं, मेरा नहीं है, मेरी आत्मा नहीं है। इसे साधना की अनुभूति द्वारा स्वयं जान लेना सिखाया। यों भगवान ने भ्रांतिकारक एवं हानिकारक देहात्म-बुद्धि और चित्तात्म-बुद्धि का नितांत निषेध किया।

इसी को और स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा – "न रूप को आत्मा मानना है, न आत्मा को रूप मानना है। न आत्मा में रूप को और न रूप में आत्मा को मानना है। इसी प्रकार न नाम (चित्त के चारों स्कंधों में से किसी को) आत्मा मानना है, न आत्मा को चित्त। न चित्त में आत्मा को, न आत्मा में चित्त को मानना है।"

---

१ इन चारों स्कंधों का विस्तृत विवरण पृष्ठ ९०-९१ पर दिया गया है।

पुनर्जन्म के नैसर्गिक नियम

प्रश्न उठता है कि जब बुद्ध आत्मा को ही नहीं स्वीकारते हैं तब पुनर्जन्म किसका मानते हैं? मुक्ति किसकी मानते हैं? विपश्यना की गहराइयों को अनुभवों पर उतारते-उतारते साधक को पहले तो यह स्पष्ट हो जाता है कि **चित्तसंतति की जीवनधारा** नैसर्गिक नियमों के अनुसार प्रवाहमान होती रहती है। यह स्पष्ट होता जाता है कि इस क्षण का चित्त पिछले क्षण के चित्त की संतान है और अगले क्षण का चित्त इस क्षण के चित्त की। यों चित्तसंतति की यह जीवनधारा क्षण-प्रति-क्षण प्रवाहमान होती रहती है। ऐसे ही भौतिक परमाणुओं की धारा भी इसके साथ जुड़ी हुई रहती है और इसके साथ-साथ उत्पन्न-नष्ट होती हुई प्रवाहमान होती रहती है। इस प्रकार चित्त और शरीर प्रतिक्षण मरता है और प्रतिक्षण **नया जन्म** धारण करता है। इसे प्रवाहमान रखने के लिए संचित कर्मसंस्कारों की ऊर्जा काम करती है। मृत्यु के समय जब परमाणु संतति से चित्त संतति का संबंध-विच्छेद हो जाता है तब किसी बलवान कर्मसंस्कार की ऊर्जा चित्तधारा को आगे धकेलती है। संचित कर्मसंस्कारों में से जिस किसी कर्म की ऊर्जा प्रबल होती है, चित्तसंतति उसी ऊर्जा के अनुकूल नई परमाणु संतति से जा जुड़ती है और बचे हुए सभी कर्मसंस्कारों के संग्रह को साथ लिए हुए नया जीवन तत्काल प्रवाहमान होने लगता है। यों मृत्यु के तुरंत पश्चात नया जीवन आरंभ हो जाता है। जन्म-मरण का यह सिलसिला तब तक चलता रहता है जब तक कि जीवनधारा के साथ कर्मसंस्कारों का संग्रह, विपश्यना द्वारा क्षय होते-होते पूर्णतया निःशेष न हो जाय। मानों निसर्ग ने ये सारे नियम परिकलन (कंप्युटराइज) कर रखे हैं। इनमें कोई व्यक्ति हस्तक्षेप नहीं कर सकता। न कोई देव-ब्रह्म, न मनुष्य।

आत्मा के संबंध में कोई भ्रांति न रह जाय, इसलिए भगवान ने बार-बार कहा –

सब्बे धम्मा अनत्ता – सारे धर्म अनात्म हैं। सारे धर्म, यानी, सारी सच्चाइयां चाहे वे नाम और रूप तथा इंद्रियों के अनित्य क्षेत्र की हों अथवा इनसे परे नाम-रूपातीत, इंद्रियातीत नित्य, शाश्वत, ध्रुव, अवस्था की हों,

ये सभी अनात्म हैं। अनित्य और नित्य, इन दोनों क्षेत्रों में कहीं किसी आत्मा का अस्तित्व नहीं है। भगवान की सिखायी हुई अनात्मवाद की शिक्षा कोई कल्पनाजन्य दार्शनिक मान्यता नहीं है।

विपश्यी साधक शरीर और चित्त की सूक्ष्मतम सच्चाइयों को अनुभूति पर उतार कर देख लेता है कि ये क्षणिक हैं, नश्वर हैं, भंगुर हैं, परिवर्तनशील हैं। यह नित्य मानी जाने वाली आत्मा नहीं है। विपश्यना द्वारा जब नित्य, शाश्वत, ध्रुव, इंद्रियातीत अवस्था का साक्षात्कार होता है, तब उस शब्दातीत, वर्णनातीत, अनिर्वचनीय को कोई किन शब्दों में व्यक्त करे? गूंगे का गुड़ है। यदि आत्मा कह कर कोई उसकी शाब्दिक व्याख्या करता है तब इसका अर्थ हुआ कि अभी उसमें अहंभाव की गहरी आसक्ति है। उसे उस परम सत्य का वास्तविक साक्षात्कार नहीं हुआ है जहां न 'मैं' है, न 'मेरा' है। जो 'अहं' और 'मम' से परे है। अतः हर अवस्था में अनात्म की सच्चाई को स्वीकार करना ही कल्याणकारी है।

आत्मा और आत्मीय की मान्यता में 'मैं और मेरा' यानी, 'अहंकार' और 'ममकार' का भाव बना रहता है जो कि मुक्त अवस्था प्राप्त करने में सबसे बड़ा बाधक है। अहंकार-ममकार-शून्यता में ही भव-विमुक्ति है।

उनके इन अनेक स्पष्ट उपदेशों के विद्यमान रहते जब कोई कहे कि भगवान से जब आत्मा के बारे में प्रश्न किये गये तब वे मौन रह गये, यह मिथ्या प्रचार का ही दुष्परिणाम है।

व्यक्ति को सबसे अधिक आसक्ति 'मैं' के प्रति, 'अहं' के प्रति होती है। अतः जब कोई कहता है कि सब कुछ अनित्य है, परंतु 'आत्मा', यानी, 'अहं' नित्य है, अमर है, अविनाशी है तो ये शब्द कानों को और हृदय को बहुत प्रिय लगते हैं। इस मिथ्या दार्शनिक मान्यता को मानने से मानस प्रफुल्लित होता है। इसके विपरीत जब सुनता है कि जिसे 'मैं' कहता हूं, वह भी अनित्य है तो आतंकित होता है। इसी कारण अनात्म का विरोध होता है। परंतु विपश्यना की गहराइयों में जैसे-जैसे गहनतर सच्चाइयों की अनुभूति होती है वैसै-वैसे मुक्ति के बोध से मन प्रसन्नता से भरता जाता है। भगवान की शिक्षा की सच्चाई स्पष्ट से स्पष्टतर होती जाती है। अनात्म का

विरोध स्वतः दूर होता जाता है। विरोध उन्हीं लोगों का है जिन्होंने अपने भीतर की सूक्ष्मतम सच्चाई का कभी अनुभव ही नहीं किया।

अनीश्वरवादी बुद्ध

भगवान ने जैसे 'अनात्मवाद की मान्यता' को स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया, वैसे ही 'अनीश्वरवाद की मान्यता' को भी। इस विषय में वे मौन रहे, यह कहना उतना ही गलत है जितना कि अनात्मवाद के विषय में उनका मौन रहना कहा गया।

उन्होंने स्पष्ट किया कि 'ईश्वरवाद की मान्यता' अकर्मण्यता की ओर ले जाती है। वैसे ही जैसे कि यह मान्यता कि जीवन में सुखद-दुःखद, भला-बुरा जो कुछ हो रहा है वह अपने पूर्वकर्मों के फलस्वरूप हो रहा है। अतः वर्तमान कर्म के लिए मानवी स्वतंत्रता का कोई महत्त्व ही नहीं रह जाता, क्योंकि सभी वर्तमान कर्म पूर्वकर्मों के फलस्वरूप ही घटित हो रहे हैं। कोई व्यक्ति हत्या, चोरी, व्यभिचार, दुर्वचन आदि के जो भी कर्म करता है, उन पर उसका अपना अधिकार नहीं है। यह मान्यता यों कर्म-स्वातंत्र्य का हनन कर, अंततः अकर्मण्यता, निष्क्रियता और अनुत्तरदायिता की ओर ही ले जाती है।

'अहेतुकवाद की मान्यता' भी इसी प्रकार अंततः अकर्मण्यता की ओर ले जाती है। जीवन में प्रिय-अप्रिय जो भी घटना घट रही है उसका अच्छे बुरे कर्मों से कोई संबंध नहीं है। तब अच्छे कर्म करने और बुरे कर्मों से बचने का कोई अर्थ नहीं रह जाता क्योंकि जीवन में जो फल आते हैं, उनका पूर्व या वर्तमान कर्मों से कोई संबंध ही नहीं है। जीवन में अच्छे या बुरे जो फल आते हैं उनका कोई हेतु नहीं, कोई कारण नहीं। अतः यह मान्यता भी कर्म-स्वातंत्र्य का हनन कर, अंततः अकर्मण्यता, निष्क्रियता और अनुत्तरदायिता की ओर ही ले जाती है।

इसी प्रकार 'ईश्वर-निर्माणवाद की मान्यता' भी हमारे कर्मों को निष्फल साबित करती है। अतः कर्म करने की स्वतंत्रता बेमाने हो जाती है। क्योंकि इस मान्यता के अनुसार फल तो वही आयगा जो ईश्वर चाहेगा।

उसकी इच्छा के बिना किसी पेड़ का एक पत्ता भी नहीं हिल सकता। तुमने अच्छा या बुरा जो कुछ अतीत में किया, अथवा वर्तमान में कर रहे हो, अथवा भविष्य में करोगे – वह ईश्वर की इच्छा के अनुसार ही हुआ है, हो रहा है और होगा। व्यक्ति की जिम्मेदारी और उसका निर्णय बेमाने है। अतः यह मान्यता भी अकर्मण्यता, निष्क्रियता और अनुत्तरदायिता की ओर ले जाती है। लोग कठपुतलियों की भांति किसी के द्वारा निर्धारित कर्म ही कर पाते हैं। उन्हें न कर्म के बारे में चिंतन की स्वतंत्रता है और न ही स्वचिंतित कर्म करने की। यह मान्यता अंततः उसी अवस्था तक पहुँचाती है, जहां कहा जाता है –

होइहैं सोइ, जो राम रचि राखा।
का करि तरक बढ़ावहि साखा।

-- *(रामचरित०)*

तुम्हारी मुक्ति तुम्हारे हाथ नहीं, ईश्वर के हाथ है। अतः अपनी बुद्धि से सोचकर मुक्ति के लिए कुछ करना बेमाने है। इसी ओर इंगित करते हुए भक्तियुग के एक हिंदी कवि 'बेनी' ने ईश्वर को संबोधित करते हुए कहा---

अपनी ही करनी जो मैं तरूं तो,
मैं करतार, करतार तुम काहे के?

-- *(ब्रजमा०)*

कवि का अभिप्राय है कि मेरे द्वारा हजार दुष्कर्म किये जाने पर भी; मेरी प्रार्थना और मेरे द्वारा की गयी अपनी प्रशस्ति-प्रशंसा सुन कर, यदि तुम मुझे तार दो, तभी तुम्हारा ईश्वर होना सार्थक है। तब भला कोई बुरे-से-बुरा दुष्कर्म करने में क्यों हिचकिचायेगा! यों ईश्वरवाद अधार्मिक कर्मों का प्रेरक भी बन सकता है।

यदि सचमुच ईश्वर इतना समर्थ है तो सैंकड़ों-हजारों शैशव अवस्था के निर्मलचित्त बालक-बालिकाओं की यह प्रार्थना स्वीकार क्यों नहीं कर सकता –

लीजिए हमको शरण में, हम सदाचारी बनें।

उन्हें शरण में लेकर सदाचारी क्यों नहीं बना देता, जिससे कि वे वयस्क होकर कभी दुराचार की ओर प्रवृत्त ही न हों। आश्चर्य है जिसमें पापी को पापमुक्त कर देने का सामर्थ्य है, उसमें पापहीन को पाप की ओर प्रवृत्त ही न होने देने का बल प्रदान कर देने का सामर्थ्य क्यों नहीं है? अतः बुद्ध की यही बात युक्तिसंगत लगती है कि आदमी दुष्कर्मों से बचता हुआ, सत्कर्मों में लगे और अपने चित्त को पूर्णतया निर्मल कर ले, तो ही संसार-संसरण से मुक्त हो सकता है।

क्या ईश्वर पापी है?

एक प्रसंग में जब भगवान बुद्ध से किसी ने कहा– "हमारी यह मान्यता है कि प्राणी जो भी सुख या दुःख भोगता है वह सब केवल ईश्वर की रचना के कारण (ईश्वर निर्माण हेतु) होता है।" यानी, ईश्वर की इच्छा पर निर्भर करता है। इस पर भगवान ने कहा– "यदि तुम्हारे दुःखों का यही एकमात्र कारण है, (तुम्हारे अपने दुष्कर्म इनका कारण नहीं हैं) तब तो तुम्हारा निर्माण किसी पापेच्छु ईश्वर द्वारा हुआ है जो कि बिना कारण तुम्हें दुःखी बनाता है। उसकी जब इच्छा होगी तब तुम्हें दुःखी बना देगा और जब इच्छा होगी, तुम्हें भव-संसरण के दुःखों से मुक्त भी कर देगा।"

भगवान बुद्ध की शिक्षा ऐसी ईश्वरवादी मान्यता के सर्वथा विपरीत थी क्योंकि ऐसी मान्यता नैसर्गिक कर्मफल सिद्धांत के विरुद्ध थी।

उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा–

–तुम्हेहि किच्चमातप्पं, अक्खातारो तथागता।

-- (ध०प० २७६, मग्गवग्गो)

– मुक्ति के लिए तपने का काम स्वयं तुम्हें ही करना पड़ेगा। तुम्हारे लिए कोई मुक्तिदाता नहीं है। तथागत जैसे मार्गदाता तुम्हें केवल मुक्ति का मार्ग आख्यात कर देते हैं।

महाब्रह्मा ईश्वर बना

एक प्रसंग में भगवान ने बताया कि कैसे एक महाब्रह्मा अपने आप को संसार का निर्माता समझने लगा और कैसे अन्य भी उसे जगत्पिता ईश्वर मानने लगे।

भगवान ने बताया – बहुत समय बीतने पर जब प्रलय होती है तब सारे लोक विनष्ट हो जाते हैं। केवल आभास्वर अरूप ब्रह्मलोक बचता है। रूप ब्रह्मलोक के निवासी ब्रह्माओं की भांति उनका सूक्ष्म वायव्य भौतिक शरीर भी नहीं होता। इसीलिए अरूप ब्रह्मलोक के ब्रह्मा मनोमय होते हैं। ध्यान का प्रीति-सुख ही उनका आहार होता है। वे अत्यंत दीर्घजीवी होते हैं। बहुत समय बीतने पर जब प्रलय के बाद पुनरावर्तन का क्रम आरंभ होता है, तब एक-एक करके अन्य लोक उत्पन्न होते हैं। उस समय आभास्वर अरूप ब्रह्मलोक का कोई प्राणी आयु या पुण्य क्षीण होने पर वहां से च्युत होकर नये उत्पन्न हुए नीचे के रूप ब्रह्मलोक में जन्म लेता है। दीर्घ काल तक उस ब्रह्मलोक में अकेला रहते हुए वह चाहता है कि उसे औरों का साथ मिले। उसी समय संयोग से आभास्वर अरूप ब्रह्मलोक के कुछ अन्य प्राणियों की आयु क्षीण होती है और वे भी नीचे के ब्रह्मलोक में जन्म लेते हैं। पहले जन्मे ब्रह्मा को यह भ्रम होता है कि मैं महाब्रह्मा हूं, ईश्वर हूं। मैं ही इनका पिता हूं। ये सब मेरे मानस पुत्र हैं। पीछे उत्पन्न हुए प्राणियों को भी यही भ्रम होता है। क्योंकि वे देखते हैं – उनके उत्पन्न होने के पहले से ही यह महाब्रह्मा यहां विद्यमान था। अतः वही हमारा निर्माता है। शनैः शनैः अन्य लोक उत्पन्न होते हैं। उन लोकों में अपने-अपने कर्मों के अनुसार प्राणी उत्पन्न होते हैं। महाब्रह्मा इसी भ्रम में रहता है कि इन विभिन्न लोकों का और वहां के प्राणियों का मैं ही निर्माता हूं।

कुछ समय बीतने पर मनुष्य लोक का कोई मानव ध्यान साधना में पारंगत होकर सीमित दिव्य दृष्टि की सिद्धि प्राप्त करता है। वह देखता है कि इस महाब्रह्मा के विद्यमान रहते सभी लोकों की और लोकनिवासियों की उत्पत्ति हुई है। वह यह भी देखता है कि अन्य सभी प्राणी देर-सवेर मृत्यु को प्राप्त होते हैं। लेकिन यह महाब्रह्मा ब्रह्मलोक में चिरकाल से विद्यमान है।

अतः यही सृष्टि का निर्माता ईश्वर है और अमर है। अन्य सभी प्राणी मरणधर्मा हैं।

भगवान ने कहा कभी-कभी लोग किसी देवलोक के देवता को ईश्वर मानने लगते हैं। किसी देवलोक के रास-विलास की रतिक्रीड़ा में निमग्न रहने वालों में से कोई देव अधिक दीर्घजीवी होता है। चंद लघुजीवी देवता उस देवलोक से च्युत होकर मनुष्यलोक में जन्म लेते हैं। उनमें से कोई ध्यान-साधना के बल पर सीमित दिव्यदृष्टि और सीमित पूर्वजन्मों के स्मरण की सिद्धि प्राप्त करके देखता है कि उस देवलोक का वह दीर्घजीवी देव तब से अब तक जीवित है। अतः उसे ही अमर मान लेता है। ईश्वर मान लेता है। यह मान्यता अन्य लोगों में प्रचलित हो जाती है। बहुजनमान्य हो जाती है।

चाहे किसी देवलोक का कोई देवता हो या ब्रह्मलोक का ब्रह्मा हो, वह कितना ही दीर्घजीवी क्यों न हो, परंतु अमर नहीं है। अन्य प्राणियों की तुलना में अधिक दीर्घजीवी होने के कारण उसके अपने मन में तथा अन्य अनेक देव-मनुष्यों के मन में भी यह भ्रम होता है कि वह दीर्घजीवी देवता अमर है, वही ईश्वर है और वही संसार का निर्माता है।

बक ब्रह्मा

भगवान अपने एक पूर्व जीवनकाल में कप्प (कर्प) नाम के बोधिसत्व थे। उनके आचार्य का नाम केशव था, जो अब रूप ब्रह्मलोक में बक ब्रह्मा के नाम से जन्मा था। अनेक दिनों से यह एक भ्रांत मान्यता चली आ रही थी कि –

पप्पोति मच्चो अमतं ब्रह्मलोकं।

-- (दी०नि० २.३१९, महागोविन्दसुत्तं)

– मर्त्य मानव अमर ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है।

लोग मानते थे कि मनुष्य तो मर्त्य है, लेकिन ब्रह्मलोक और ब्रह्मलोक के निवासी ब्रह्मा अमर हैं। भगवान ने अपनी अंतर्दृष्टि से जाना कि अन्य

अनेकों की भांति बक ब्रह्मा भी इस मिथ्या मान्यता का शिकार है कि वह परम मुक्त अमर अवस्था को प्राप्त हो गया है। वह यह समझ बैठा है कि –

इदं निच्चं - यह नित्य है।

इदं धुवं - यह ध्रुव है।

इदं सस्सतं - यह शाश्वत है।

इदं केवलं - यह समग्र संपूर्ण है।

इदं अचवनधम्मं - यह अच्युतधर्मा है।

इदञ्हि न जायति न जीयति - यह न जन्मता है, न जीर्ण होता है,

न मीयति न चवति न उपपज्जति - न मरता है, न च्युत होता है और न उत्पन्न होता है।

इतो च पनञ्ञं उत्तरिं निस्सरणं नत्थि - इससे परे कोई निस्सरण नहीं है।

अर्थात, यह चरम परम अवस्था है।

भगवान बुद्ध उस ब्रह्मलोक में स्वयं जाकर बक ब्रह्मा से मिले और उसे सच्चाई का दर्शन करा कर इस मिथ्या मान्यता से मुक्त किया और उसका कल्याण किया। बक ब्रह्मा का होश जागा तो कल्याणकारी शास्ता की प्रशस्ति-प्रशंसा में कह उठा –

तथा हि त्यायं जलितानुभावो, ओभासयं तिट्ठति ब्रह्मलोकं।

-- *(सं०नि० १.१.१७५, बकब्रह्मसुत्तं)*

– सो यह आपका जाज्वल्यमान तेज ब्रह्मलोक को प्रकाश से भर रहा है।

महाब्रह्मा अनभिज्ञ

भगवान बुद्ध के जीवनकाल की एक अन्य घटना।

भगवान के एक भिक्षु शिष्य ने ध्यान-साधना के बल पर कुछ ऋद्धियां प्राप्त कर लीं। इन ऋद्धिबलों से साधक भौतिक शरीर में से मनोमय शरीर को बाहर निकाल लेता है। एक से अनेक हो जाता है। अनेक से पुनः एक हो जाता है। प्रकट होता है। अंतर्धान होता है। दीवार अथवा पर्वत से बिना

टकराये उसके आर-पार निकल जाता है। जैसे जल में वैसे पृथ्वी में गोते लगाता है। जैसे ठोस पृथ्वी पर वैसे ही जल पर चलता है। पालथी मार कर आकाश में पक्षी की भांति उड़ता है। अपने मनोमय शरीर से चांद सूरज को छूता है। विभिन्न देवलोकों और ब्रह्मलोकों की यात्रा करता है।

भगवान ने ऐसे किसी भिक्षु द्वारा ऋद्धि का प्रदर्शन मना कर रखा था। इस भिक्षु ने सोचा ऋद्धि-प्रदर्शन के लिए नहीं, परंतु मेरी एक जिज्ञासा-पूर्ति के लिए इसका उपयोग करूं। मैं देव और ब्रह्म लोकों में जाकर वहां के देवों और ब्रह्माओं से मिल कर उनसे पूछूं कि ये चार महाभूत – पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु कहां जाकर बिल्कुल निरुद्ध हो जाते हैं। इस अवस्था की अनुभूति कर सकने की साधना उसने भगवान से स्वयं नहीं सीखी थी। अतः इस जिज्ञासा की पूर्ति के लिए वह एक-एक करके छहों देवलोकों में पहुँचा। वहां के देवताओं से और उन-उन देवलोकों के अधिपतियों से, यही प्रश्न किया। सब ने अपनी अनभिज्ञता प्रकट करते हुए उत्तरोत्तर लोकों के देव-ब्रह्माओं से पूछने का परामर्श दिया। वह बीसों रूप ब्रह्मलोकों के ब्रह्माओं से यही प्रश्न पूछने पहुँचा। सब ने यही उत्तर दिया कि हममें से जो सर्वश्रेष्ठ और सर्वज्येष्ठ महाब्रह्मा है, वही इस प्रश्न का उत्तर दे सकता है। इन ब्रह्माओं से बातचीत चल ही रही थी कि संयोगवश उसी समय महाप्रभाशाली तेजस्वी महाब्रह्मा प्रकट हुआ। जब भिक्षु ने उससे यही प्रश्न पूछा तब उसने अपना परिचय देते हुए कहा – "मैं हूं महाब्रह्मा, ईश्वर, जगन्निर्माता, जगत्पिता, इत्यादि"।

भिक्षु ने तीन बार अपना वही प्रश्न दोहराया। पूछे गये प्रश्न का उत्तर न देकर, महाब्रह्मा ने तीनों बार अपना यही परिचय दोहराया कि "मैं हूं महाब्रह्मा, ईश्वर, जगन्निर्माता, जगत्पिता, इत्यादि"।

इस पर भिक्षु ने कहा – आपका परिचय तो मैंने तीन बार सुन लिया। अब कृपया मेरे प्रश्न का उत्तर दीजिए। तब महाब्रह्मा भिक्षु की बांह पकड़ कर उसे एक ओर ले गया और उससे कहा कि ब्रह्मलोक के सभी निवासी यही समझते हैं कि मुझ महाब्रह्मा से कुछ भी अज्ञात नहीं है। इसीलिए मैंने उनके सामने तुम्हें उत्तर नहीं दिया। सच्चाई यह है कि मैं भी नहीं जानता कि ये चारों महाभूत कहां जाकर निरुद्ध हो जाते हैं। यह तुम्हारा ही दोष है

कि तुम भगवान बुद्ध को छोड़ कर इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न का उत्तर औरों से प्राप्त करने निकले हो।

भिक्षु भगवान बुद्ध के पास लौटा। भगवान ने उसे समझाया कि जहां चारों महाभूत समाप्त हो जाते हैं, निरुद्ध हो जाते हैं, वह परम अवस्था नहीं है। परम निर्वाणिक अवस्था में चारों महाभूत ही नहीं, चित्त भी निरुद्ध हो जाता है। विज्ञान (चित्त) के भी निरुद्ध हो जाने पर ही वह नामरूपातीत, इंद्रियातीत नित्य शाश्वत ध्रुव अवस्था प्रकट होती है।

भगवान गहन विपश्यना द्वारा गंभीर साधकों को इसी अवस्था का साक्षात्कार करवाते थे। रूप ब्रह्मलोक के ब्रह्मा तो रूप (भौतिकता) के क्षेत्र का अतिक्रमण कर, उसके आगे अरूप ब्रह्मलोक की सच्चाई को भी नहीं जानते। अरूप के परे नाम, यानी, चित्त के भी निरुद्ध हो जाने पर प्रकट होने वाली निर्वाणिक अवस्था को क्या जानें? फिर भी उन्हें जगत्पिता ईश्वर होने का भ्रम बना रहता है और अन्य प्राणियों को भी उनके बारे में यही भ्रम बना रहता है।

सम्यक संबुद्ध की यही संबोधि है कि वह संसार से लुप्त हुई विपश्यना विद्या को खोज निकालते हैं और उस विद्या से न केवल स्वयं भवमुक्त होते हैं, प्रत्युत अनेकों को इस विद्या का अभ्यास करना सिखा कर, उन्हें भी सभी इकत्तीस भवलोकों के परे, भवातीत, लोकातीत, इंद्रियातीत निर्वाणिक अवस्था का स्वयं साक्षात्कार कर सकने और भवविमुक्त हो सकने का मार्ग प्रशस्त करते हैं।

कौन है संसार का निर्माता?

संसार का निर्माता कोई देव या ब्रह्मा नहीं है। भगवान बुद्ध की शिक्षा कहती है –

न हेत्थ देवो ब्रह्मा वा, संसारस्सत्थिकारको।
सुद्धधम्मा पवत्तन्ति, हेतुसम्भारपच्चया॥

-- *(विसुद्धि० २.६८९, कङ्खावितरणविसुद्धिनिद्देसो)*

– संसार को बनाने वाला न कोई देव है, न कोई ब्रह्मा। धर्मनियामता, यानी, कारण और परिणाम के निश्चित नैसर्गिक नियमों के आधार पर धर्म का स्वभाव ही प्रवर्तमान होता रहता है।

इस प्रवर्तमान संसार का संचालन कोई अदृश्य देव नहीं कर रहा। समग्र संचलन कार्य-कारण, कारण-कार्य की अविच्छिन्न शृंखला के आधार पर गतिमान हो रहा है। इस सच्चाई को गहराई से समझ सकने का एक अन्य कारण उपस्थित हुआ।

एक ओर विपश्यना साधना के अनेक शिविर लेकर मेरी साधना का अभ्यास पुष्ट हो रहा था। दूसरी ओर बुद्धवाणी सहित जन्म से प्राप्त हुई अपनी पुरानी परंपरा के धर्मग्रंथों का अध्ययन और पुनरध्ययन भी चल रहा था। ऐसा करते हुए एक बार एक अत्यंत विस्मयजनक विस्फोट हुआ, जब देखा कि गीता भी लगभग इसी बुद्धवाणी को अपने शब्दों में अभिव्यक्त कर रही है। गीता के बोल हैं–

न कर्तृत्वं न कर्माणि, लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं, स्वभावस्तु प्रवर्तते॥

-- *(गीता ५.१४)*

– ईश्वर न संसार की कृति का सृजन करता है और न कर्म और कर्मफल के संयोग का जोग जुड़ाता है। निसर्ग का धर्म, यानी, स्वभाव, ही प्रवर्तमान होता रहता है।

यहां भी ईश्वर निर्माणवाद को स्पष्ट शब्दों में नकारा गया है। निसर्ग के नियमों का अपना स्वभाव है, धर्म है। कर्म का बीज ही अंकुरित और प्रस्फुटित होता हुआ आगे बढ़ कर समय पकने पर अपना फल प्रकट करता है। प्रत्येक फल अपने साथ एक या एक से अधिक बीज लेकर आता है। आगे चलकर पुनः हर बीज फल लाता है। इस स्वतः प्रवर्तमान धर्म-नियामता में किसी बाहरी ईश्वर का हस्तक्षेप नहीं होता।

स्पष्ट है कि जब कोई ईश्वर न सृष्टि का निर्माण करता है, न किसी को उसके किये कर्मों का फल ही देता है, तब उसके अस्तित्व का क्या अर्थ हुआ?

मनुष्य स्वयं ही ईश्वर है

बुद्धवाणी से यह स्पष्ट है कि देवलोक या ब्रह्मलोक के किसी प्राणी को जगत्पिता ईश्वर के रूप में, चराचर के स्वामी के रूप में बुद्ध स्वीकार नहीं करते थे। उन्होंने लोगों को ऐसी भ्रांतियों की भटकन से बचा कर सच्चाई प्रकट करते हुए कहा –

अत्ता हि अत्तनो नाथो, को हि नाथो परो सिया।

–व्यक्ति अपना स्वामी स्वयं है। अपने आप से परे अन्य कौन उसका स्वामी हो सकता है भला!

स्वयं अपने पुरुषार्थ द्वारा भवमुक्त हो सकने की प्रेरणा देते हुए आगे उन्होंने कहा –

अत्तना हि सुदन्तेन, नाथं लभति दुल्लभं।

-- (ध०प० १६०, अत्तवग्गो)

– अपने आप का, यानी, अपने अस्थिर चित्त का, भलीभांति दमन कर लेने पर यह दुर्लभ स्वामित्व उपलब्ध होता है।

प्रत्येक व्यक्ति के भीतर स्वयं मुक्त होने की शक्ति का स्वामित्व विद्यमान है। परंतु सुषुप्त है। उसे संयमपूर्वक जगा कर ही कोई अपने स्वामित्व का लाभ उठा सकता है। उपयुक्त साधना द्वारा जन्म-जन्मांतरों से उठाये चलते हुए अपने सिर पर का सारा बोझ उतार कर वह भारमुक्त हो जाता है। मन का सारा मैल उतार कर मैलमुक्त हो जाता है। कंधे पर पड़े जूए को उतार फेंक कर बंधनमुक्त हो जाता है। विकारों की गुलामी से पूर्णतया छुटकारा पा लेता है। यों उसे अपनी मुक्ति के लिए जो कुछ करना होता है वह सब कर चुका होता है। इस प्रकार अपना दुर्लभ स्वामित्व प्राप्त कर लेता है – **नाथं लभति दुल्लभं।**

यह अवस्था किसी देवी, देवता, या ब्रह्मा की कृपा से, आशीर्वाद से या वरदान से नहीं प्राप्त होती। इसे प्राप्त करने के लिए स्वयं निरंतर कठोर परिश्रम और पुरुषार्थ करना होता है। तभी कहा गया –

सुप्पबुद्धं पबुज्झन्ति, सदा गोतमसावका।
येसं दिवा च रत्तो च, भावनाय रतो मनो॥

-- *(ध०प० ३०१, पकिण्णकवग्गो)*

– भगवान बुद्ध के वे शिष्य जो दिन-रात साधना भावना में रत रहते हैं, वे ही भलीभांति बोधि-संपन्न होते हैं। भवमुक्त होते हैं।

मुक्ति प्राप्त करने के लिए स्वयं सतत परिश्रम करना होता है। भीगी आंखों से और कातर कंठ से किसी देवी-देवता या ईश्वर-ब्रह्म से आर्द्र प्रार्थना करते रहने से विकारों से स्थाई मुक्ति नहीं मिलती। भवविमुक्ति की अवस्था दूर ही रहती है।

नदी के इस तट पर बैठा कोई व्यक्ति जीवनपर्यंत नदी के उस तट से प्रार्थना करता रहे – "ऐ नदी के परले तट! मैं तेरा दर्शन किया चाहता हूं। तुमसे मिलना चाहता हूं।" नदी के इस तट पर बैठे व्यक्ति का परले तट से मिलाप नहीं हो सकता। उस तट तक पहुँचना है तो नदी को स्वयं पार करना होता है। परम विशुद्ध विमुक्त अवस्था तक पहुँचने के लिए अपने मनोविकारों को स्वयं धोना होता है। कोई अन्य नहीं धोता। अपने किये दुष्कर्म का दुष्फल स्वयं अपने को ही भुगतना पड़ता है। अपने किये सत्कर्म का सत्फल ही अपने को मिलता है। तभी कहा गया –

अत्तना हि कतं पापं, अत्तना संकिलिस्सति।
अत्तना अकतं पापं, अत्तनाव विसुज्झति।
सुद्धी असुद्धि पच्चतं, नाञ्ञो अञ्ञं विसोधये॥

-- *(ध०प० १६५, अत्तवग्गो)*

– अपना किया पाप अपने को ही मैला करता है। अपना न किया पाप अपने को निर्मल करता है। शुद्धि-अशुद्धि स्वयं अपने किये ही होती है। कोई अन्य किसी दूसरे को शुद्ध नहीं कर सकता। मुक्त नहीं कर सकता।

अपने मन को मैला मैंने किया है। अतः अब परिश्रमपूर्वक बोधि जगा कर उसे स्वच्छ करने की जिम्मेदारी भी मेरी ही है। किसी अन्य की नहीं।

अत्तना चोदयत्तानं, पटिमंसेथ अत्तना।
सो अत्तगुत्तो सतिमा, सुखं भिक्खु विहाहिसि॥

-- *(ध०प० ३७९, भिक्खुवग्गो)*

– जो स्वयं अपने आप को प्रेरित करके परिश्रम करता है, स्वयं अपने आप को साधना में संलग्न करता है, अपने आपको विकारों से सुरक्षित रखता हुआ वह सजग भिक्षु साधक ही सुख से विहार करेगा।

निब्बानं परमं सुखं (निर्वाण के परम सुख) का साक्षात्कार भी वही कर सकेगा।

इसीलिए भगवान ने स्पष्ट शब्दों में दोहराया –

अत्ता हि अत्तनो नाथो, अत्ता हि अत्तनो गति।
तस्मा संयममत्तानं, अस्सं भद्रंव वाणिजो॥

-- *(ध०प० ३८०, भिक्खुवग्गो)*

– व्यक्ति स्वयं अपना मालिक है, अपनी गति स्वयं बनाता है। इसलिए अपने आप को संयमित करे, वैसे ही जैसे घोड़ों का व्यापारी एक बिगड़ैल घोड़े को संयत करता है।

अपने भीतर कल्पनाविहीन यथार्थ का अनुसंधान करने वाला साधक स्वानुभूति के बल पर खूब समझने लगता है – सत्य ही ईश्वर है, परम सत्य ही परमेश्वर है। ऋत ही ईश्वर है, ऋत के नियम ही ईश्वरीय नियम हैं। **ऋत**[२] के नियमों पर आधारित यह संसारचक्र चलता है, कर्मानुकूल फल मिलते हैं। कर्मसंस्कारों के निरुद्ध हो जाने से साधक के लिए संसारचक्र स्वयं निरुद्ध हो जाता है। यही सत्यरूपी ईश्वर का नियम है।

यह बात अपने भीतर जगायी गयी ऋतंभरा प्रज्ञा, यानी निसर्ग के नियमों के ज्ञान, से भरपूर विद्या द्वारा पूर्णतया स्पष्ट हो जाती है।

---

२ *(ऋत का विस्तृत अर्थ पृ. १४१ पर देखिये)*

अनुभव पर आधारित यथाभूत सत्य

एक बार भगवान बुद्ध से किसी ने पूछा – “आपकी दार्शनिक मान्यता क्या है?”

उन्होंने उत्तर दिया, “मैं दार्शनिक मान्यताओं से ऊपर उठ चुका हूं।”

वस्तुतः दार्शनिक मान्यताएं बुद्धिकिलोल अथवा कल्पनाजन्य अंधविश्वासों की उपज होती हैं, जो कि सांप्रदायिक भेद-प्रभेदों के और वादविवादों के लिए अखाड़ों का काम करती हैं।

बुद्ध के लिए ‘दर्शन’ मान्यता का नहीं, बल्कि जान्यता, यानी, अनुभवन का विषय था। बुद्ध ने किसी भी परंपरा अथवा सांप्रदायिक मान्यता को प्रोत्साहन देने के स्थान पर प्रखर प्रज्ञामयी विपश्यना के द्वारा यथाभूत सत्य का अनुभव करना सिखाया। साधक स्थूल से सूक्ष्मतर अनित्यधर्मी सत्यों के अनुभवों में से गुजरते हुए शरीर और चित्त के सूक्ष्मतम सत्यों का अनुभव कर लेता है। तदनंतर उन सत्यों का भी अतिक्रमण कर इंद्रियातीत नित्य शाश्वत परम सत्य का साक्षात्कार करता है। अंतर्ज्ञान की इस यात्रा में साधक ऋत को, या यों कहें, स्वभाव को स्वानुभूति द्वारा स्पष्ट जानने लगता है।

स्वानुभूति की इस विद्या की सफलता का रहस्य इसी तथ्य में है कि इस अनुसंधान की यात्रा के हर कदम पर केवल यथाभूत सत्य की अनुभूति को महत्त्व दिया जाता है; यथाकृत को नहीं, यथाकल्पित को नहीं, यथावांछित को नहीं, यथाआरोपित को नहीं। इस नियम का दृढ़तापूर्वक पालन करते रहने से सच्चाई के दो पक्ष स्वतः उजागर होते जाते हैं। एक तो प्रज्ञप्त सत्य, यानी, प्रत्यक्ष सत्य, प्रकट सत्य, भासमान सत्य। दूसरा छेदन-भेदन करने वाली तीक्ष्ण प्रज्ञा द्वारा इस प्रत्यक्ष सत्य का विघटन और विभाजन करते हुए सूक्ष्मतम यथार्थ सत्य, यानी, परमार्थ सत्य, परम सत्य।

उदाहरणार्थ, हमारा जो भौतिक शरीर प्रत्यक्षतः ठोस प्रतीत होता है, उसमें ठोसपने का नामोनिशान नहीं है। यथार्थतः, सारा शरीर और इसी प्रकार सारा भौतिक जगत नन्हें-नन्हें परमाणुकणों से बना हुआ है, जिन्हें भगवान ने 'कलाप' कहा। कलाप माने भौतिक जगत की सूक्ष्मतम इकाई। कलाप भी ठोस नहीं है। कलापों के समूह में सतत प्रज्वलन और प्रकंपन होता रहता है। परिवर्तन होता रहता है। तभी कहा –

सब्बो पज्जलितो लोको, सब्बो लोको पकम्पितो।

-- *(सं०नि० १.१.१६८, उपचालासुत्तं)*

– सारे लोक प्रज्वलित हैं, सारे लोक प्रकंपित हैं।

प्रत्येक कलाप (atom) में भी सतत प्रकंपन-परिवर्तन होता रहता है।

यह किसी विशिष्ट दर्शनशास्त्र की मान्यता के आधार पर नहीं कहा गया। यह एक ऐसा नैसर्गिक सत्य है जिसे हर विपश्यी साधक गहराइयों में उतरते-उतरते स्वयं अनुभव करने लगता है। शरीर और चित्त दोनों महज तरंगें-ही-तरंगें हैं। इस अवस्था पर पहुँचने से मानस के चार खंड (स्कंध) और उनके अलग-अलग क्रियाकलाप स्पष्टतया अनुभूति पर उतरने लगते हैं। एक दूसरे को प्रभावित करते हुए और एक दूसरे से प्रभावित होते हुए भौतिक शरीर और मानस के इन चार खंडों के पारस्परिक संबंध भी स्पष्ट रूप से महसूस होने लगते हैं।

कर्मसंस्कारों का सृजन और भंजन

आंख की इंद्रिय से जब किसी रूप, रंग, आकृति या प्रकाश का, कान से किसी शब्द का, नाक से किसी गंध का, जिह्वा से किसी रस का, त्वचा से किसी स्पर्शव्य पदार्थ का, मन से किसी चिंतन-मनन का स्पर्श होता है; तब मानस का **'विज्ञान'** खंड सजग होता है और जानता है कि इस इंद्रियद्वार से कुछ टकराया है, जिसके कारण कुछ हलन-चलन हुई है। इतने में मानस का **'संज्ञा'** खंड अपने पूर्व अनुभवों की याददाश्त से पहचानता है कि क्या स्पर्श हुआ? और उसका मूल्यांकन करता है कि जिस इंद्रिय-विषय ने स्पर्श किया, वह प्रिय है या अप्रिय? इतने में **'वेदना'** खंड का काम आरंभ होता

है। संज्ञा द्वारा विषय का मूल्यांकन प्रिय किया गया तो सुखद, अप्रिय किया गया तो दुःखद संवेदना जागती है। इसके परिणामस्वरूप **'संस्कार'** खंड राग या द्वेष की प्रतिक्रिया करते हुए – कर्मसंस्कार बनाता है।

किसी-न-किसी ऐंद्रिय विषय के स्पर्श से सुखद या दुःखद संवेदनाएं जागती रहती हैं और उनके परिणामस्वरूप राग या द्वेष के संस्कार बनते रहते हैं। इससे अंतर्मन की गहराइयों तक राग और द्वेष का स्वभाव पुष्ट होता जाता है। यों कर्मसंस्कारों के बंधन संवर्धित होते रहते हैं, अगणित होते रहते हैं। अविद्या, यानी, अज्ञान के अंधकार, में इन कर्मसंस्कारों का सृजन और संवर्धन होता है।

प्रज्ञामयी विपश्यना साधना द्वारा जैसे-जैसे अविद्या का अंधकार दूर होता है, वैसे-वैसे साधक के लिए शरीर और मानस के इन चार खंडों का प्रपंच स्पष्ट समझ में आने लगता है। विपश्यी साधक इसे स्वानुभूति द्वारा समझ कर अपने कर्मसंस्कारों के इन बंधनों के सृजन और संवर्धन का क्रम रोकता है। कर्मबंधनों से मुक्त होने का यह काम उसे स्वयं करना होता है। कोई अन्य उसकी मुक्ति के लिए कुछ नहीं कर सकता।

मुझे यह देख कर आश्चर्य हुआ कि गीता ने भी कर्मसंस्कारों के सृजन और संवर्धन के इसी क्रम को इन शब्दों में घोषित किया –

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि, भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति, पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः॥

-- *(गीता १५.१०)*

– मानस के ये चार खंड (विज्ञान, संज्ञा, वेदना, संस्कार) किस प्रकार काम करते हैं, इसे प्रज्ञावान (ज्ञानचक्षुसंपन्न) साधक ही विपश्यना द्वारा जान सकते हैं। किसी इंद्रिय द्वार पर तत्संबंधित विषय के स्पर्श होते ही, मानस का पहला खंड उत्क्रमण करता है, दूसरा खंड रुक कर उसे पहचानता है और उसका मूल्यांकन करता है। इसके फलस्वरूप सुखद या दुःखद संवेदनाओं की अनुभूति होती है, जिसे भोक्ताभाव से भोगते हुए राग और द्वेष के कर्मसंस्कारों के बंधन बांधने लगता है और उनका अनेक गुना संवर्धन करने लगता है। मूढ़ व्यक्ति इन सच्चाइयों का अनुभव नहीं कर

पाता। इस प्रकार जन्म-मरण के दुःखद भवसंसरण को लंबायमान करता रहता है।

काश, यदि गीता के इन अनमोल सैद्धांतिक वचनों के साथ-साथ देश में क्रियात्मक विपश्यना विद्या भी जीवित रखी जाती तो अनेक लोग बंधनों के कारण के साथ उनसे छुटकारा पाने की विधि भी जान कर इन वचनों का और इनसे मुक्ति का केवल बौद्धिक ही नहीं, बल्कि वास्तविक क्रियात्मक लाभ उठा पाते।

अध्यात्म जगत के महान वैज्ञानिक भगवान बुद्ध ने भवबंधन के कारण के साथ-साथ उनके निवारण की भी गहराई से खोज की। उन्होंने धर्मनियामता, यानी, निसर्ग के नियमों, को स्वानुभूति द्वारा विवरण सहित जाना कि –

इमस्मिं सति इदं होति।

-- (म०नि० १.४०४, महातण्हासङ्खयसुत्तं)

– यह कारण होने से यह परिणाम होता है।

यानी, शरीर पर होने वाली संवेदनाओं को प्रिय या अप्रिय मान कर राग और द्वेषमयी तृष्णा जगाने से भवसंसरण के कर्मसंस्कार बनते हैं जिनसे दुःख-बंधन बँधते हैं। इसके साथ-साथ यह खोज भी की कि –

इमस्मिं असति इदं न होति।

-- (म०नि० १.४०६, महातण्हासङ्खयसुत्तं)

– यह कारण न हो तो यह परिणाम नहीं होता।

यानी, शरीर पर होने वाली संवेदनाओं को प्रिय-अप्रिय मान कर राग-द्वेषमयी तृष्णा न जागने से न भवसंसरण के कर्मसंस्कार बनते हैं और न दुःख-बंधन बँधते हैं।

भवमुक्ति कैसे होती है?

कोई व्यक्ति वस्तुतः स्थितप्रज्ञ हो जाता है तभी जन्म-मरण के भव-संसरण से विमुक्त हो पाता है। भगवान बुद्ध की सिखायी हुई

विपश्यना साधना करता हुआ साधक खूब समझता है कि वास्तविक प्रज्ञा क्या होती है और व्यावहारिक रूप से प्रज्ञा में स्थित होने का, यानी, स्थितप्रज्ञ होने का, अभ्यास कैसे किया जाता है। प्रज्ञा कहते हैं– स्वानुभूतिजन्य प्रत्यक्ष ज्ञान को, न कि परोक्ष ज्ञान को। किसी पढ़ी-पढ़ाई या सुनी-सुनाई बात को श्रद्धापूर्वक स्वीकार कर लेना श्रुतज्ञान हुआ। जो पढ़ा या सुना, उसे तर्क के तराजू पर तौलने पर, बुद्धि की कसौटी पर कसने पर युक्तिसंगत लगे और तब उसे स्वीकार करे तो यह चिंतनज्ञान हुआ। ये दोनों तभी कल्याणकारी होते हैं, जबकि इनसे प्रेरणा जागे और इस सच्चाई को बार-बार अपने प्रत्यक्ष अनुभव पर उतार कर भावित करे, पकाये, पुष्ट करे तब प्रज्ञा कहलाये; भावित प्रज्ञा कहलाये, कल्याणकारी प्रकृष्ट ज्ञान कहलाये, प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाये। परोक्ष ज्ञान नहीं। शरीर और चित्त से संबंधित सच्चाइयों को बार-बार प्रत्यक्ष अनुभूति पर उतारते-उतारते भवचक्र-संचलन का कारण और भवचक्र-भंजन का उपाय यथार्थतः समझ में आने लगता है। शरीर में सुखद-दुःखद संवेदना प्रकट होते ही मानस में मति जागती है। सुखद और दुःखद को प्रिय या अप्रिय मानने की **मति** जागती है। मति के जागते ही नति जागती है। **नति** जागती है, यानी, झुकाव होता है। राग-रंजन की ओर झुकाव होता है या द्वेष-दूषण की ओर झुकाव होता है। ये दोनों नतियां, **अवनति** की ओर उन्मुख होती हैं। इससे भवजीवनधारा की गति **दुर्गति** की ओर बहने लगती है, **अधोगति** की ओर बहने लगती है। इसके विपरीत यदि मन में समतामयी प्रज्ञा जागती है तब **नति, उन्नति** की ओर उन्मुख होती है, जीवनधारा का बहाव **ऊर्ध्वगति** यानी, **सद्गति** की ओर बहने लगता है। साधक की प्रज्ञा और प्रबल होती है तब उसे खूब समझ में आता है कि अधोगति से सद्गति अवश्य अच्छी है। लेकिन यह भी भवचक्र को चलायमान ही रखती है। इसका भंजन नहीं कर पाती। इसके लिए प्रज्ञा को अधिक प्रबल बनाना होता है।

जितनी-जितनी अविद्या दुर्बल होती है, विद्या सबल होती है; उतनी-उतनी प्रज्ञा प्रबल होती है। अनित्य, दुःख, अनात्म को नित्य, सुख और आत्मा मानना 'अविद्या' है। अनित्य, दुःख, अनात्म को यथार्थतः अनित्य, दुःख, अनात्म ही जानना 'विद्या' है। साधक संवेदनाओं के अनुभव

के स्तर पर जानता है कि भौतिक शरीर और मानस के चारों खंड प्रत्यक्षतः अनित्य हैं। इनमें प्रतिक्षण उदय-व्यय का क्रम चलता रहता है। इस अविद्या-नाशक और विद्या-जनक अनुभूति को **सम्पजञ्ञ**, यानी संप्रज्ञान, यानी सम्यक प्रज्ञा, कहा गया। साधक प्रयत्न करता है कि उसका यह सम्पजञ्ञ उठते-बैठते, चलते-फिरते, खाते-पीते, नहाते-धोते; हर अवस्था में सतत कायम रहे। **सम्पजञ्ञं न रिञ्चति**, यानी संप्रज्ञान क्षणभर भी न छूटे।

अभिक्कन्ते पटिक्कन्ते सम्पजानकारी होति, आलोकिते विलोकिते सम्पजानकारी होति, समिञ्जिते पसारिते सम्पजानकारी होति, सङ्घाटिपत्तचीवरधारणे सम्पजानकारी होति, असिते पीते खायिते सायिते सम्पजानकारी होति, उच्चारपस्सावकम्मे सम्पजानकारी होति, गते ठिते निसिन्ने सुत्ते जागरिते भासिते तुण्हीभावे सम्पजानकारी होति।

-- *(दी॰नि॰ २.३७६, महासतिपट्ठानसुत्तं)*

साधक आगे बढ़ता है कि पीछे हटता है, तब संप्रज्ञानी होता है; सामने देखता है कि आड़े-तिरछे देखता है, तब संप्रज्ञानी होता है; अंग सिकोड़ता है कि पसारता है, तब संप्रज्ञानी होता है; अपने वस्त्र चीवर, पात्र आदि धारण करता है, तब संप्रज्ञानी होता है; खाते, पीते, चखते समय संप्रज्ञानी होता है; मल-मूत्र त्यागते समय संप्रज्ञानी होता है; चलते हुए, खड़े हुए, बैठे हुए, सोते हुए, जागते हुए, बोलते हुए, मौन रहते हुए संप्रज्ञानी होता है।

इस प्रकार वह प्रज्ञा में स्थित होने का, यानी, स्थितप्रज्ञ होने का सही अभ्यास करता है। बिना स्वानुभव किये थोथा बुद्धिविलास नहीं करता। अनुभवजन्य अभ्यास की निरंतरता द्वारा स्थितप्रज्ञ बनता है।

अभ्यास की निरंतरता बनाये रखने के लिए साधक भगवान के एक अन्य उपदेश को भी याद रखता है और उसके अनुसार काम करता है। सामान्य साधकों की यह कमजोरी होती है कि उनका मानस बहुधा वर्तमान को भूल कर अतीत और अनागत में रमण करने लगता है। इससे बचना आवश्यक है। भगवान ने कहा कि जो अच्छे साधक हैं, वे

अतीतं नानुसोचन्ति, नप्पजप्पन्ति नागतं।
पच्चुप्पन्नेन यापेन्ति, तेन वण्णो पसीदति॥

-- *(सं०नि० १.१.१०, अरञ्ञसुत्तं)*

– अतीत को याद करके चिंतित नहीं होते। अनागत की कल्पना-जल्पना में नहीं लगे रहते।

– प्रत्युत्पन्न सच्चाई में ही जीते हैं। इससे उनके चेहरे खिले रहते हैं।

यों क्षण-प्रति-क्षण वर्तमान पर ही मन लगाये रखें तो प्रसन्नचित्त से आगे बढ़ते जाते हैं।

इसी विषय पर भगवान बुद्ध ने यह भी कहा –

अतीतं नान्वागमेय्य, नप्पटिकङ्खे अनागतं।
यदतीतं पहीनं तं, अप्पत्तञ्च अनागतं॥

पच्चुप्पन्नञ्च यो धम्मं, तत्थ तत्थ विपस्सति।
असंहीरं असंकुप्पं, तं विद्वा मनुब्रूहये॥

-- *(म०नि० ३.२७२, भद्देकरत्तसुत्तं)*

– अतीत की यादों का अनुगमन न करे। अनागत को प्राप्त करने की आकांक्षा न करे। जो अतीत है, वह गुजर चुका। जो अनागत है वह अभी आया नहीं। अतः जो प्रत्युत्पन्न है, यानी, जो सत्य शरीर पर जहां-जहां इस क्षण उत्पन्न हो रहा है समझदार साधक उसी की विपश्यना करे। यानी, विपश्यना द्वारा समता पुष्ट करते हुए जो प्रिय लगे उसके प्रति राग न जगाने, और जो अप्रिय लगे उसके प्रति द्वेष न जगाने के मनोस्वभाव का संवर्धन करे। यों वर्तमान की सच्चाई के आधार पर प्रज्ञा को प्रतिष्ठित करे।

इसी को गीता ने इन शब्दों में व्यक्त किया –

गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः॥

-- *(गीता २.११)*

– पंडित, यानी समझदार व्यक्ति, विगत और अनागत की चिंता नहीं करते।

विपश्यना साधना की अनेक अवस्थाओं में एक बाधा और उत्पन्न होती है। साधक भूतकाल की ओर न भी जाय, भविष्य में भी किसी सांसारिक कामना की जल्पना न करे तब भी मन में साधना की ऊंची अवस्थाएं प्राप्त करने की तृष्णा जागने लगती है। तृष्णा तृष्णा है। दु:ख का मूल कारण है। साधक समझदार होता है तो क्षण-प्रति-क्षण सजग और संप्रज्ञ रह कर अपनी साधना में लगा रहता है। भगवान के इस आदेश को याद रखता है--

कम्मविपाको अचिन्तेय्यो

कर्म का फल चिंतन-योग्य नहीं है। कौन-सा कर्म क्या फल देगा? कब फल देगा? कौन-सी अवस्थाएं कब प्राप्त होंगी? इस समय जो फल प्रकट हो रहा है, वह कौन-से कर्म का है? इस निरर्थक चिंतन से बचे। साधक अपना कर्तव्य करता रहे। फल धर्मनियामता पर छोड़ दे। फल के चिंतन में लगा रहेगा तो काम ठीक से नहीं कर पायगा। कभी सफलता का उन्माद छायगा, कभी विफलता की हताशा।

लगभग इसी भाव को अपने यहां गीता ने भी दोहराया, जब कहा –

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।

-- *(गीता २.४७)*

पूर्णतया स्थितप्रज्ञ होने के लिए साधक अन्य सारे चिंतन छोड़कर जितना हो सके उतना संप्रज्ञान में रत रहने का प्रयत्न करता रहता है। भावित प्रज्ञा के बल पर यह अनुभव करता रहता है कि इंद्रियां और इनके विषय अनित्यधर्मा हैं, अतः दु:खधर्मा और अनात्मधर्मा हैं। यानी, ये ध्रुव नहीं हैं। इसलिए ये 'मैं' नहीं हैं, 'मेरे' नहीं हैं, 'मेरी आत्मा' नहीं हैं। इन्हें 'मैं' 'मेरा' मानकर राग-द्वेष जगाता है और दु:खी होता है। इन्हें ध्रुवधर्मा आत्मा मान लेने की गलती करता है। विपश्यना के पहले चरण में अनुभूतिजन्य प्रज्ञा जगा कर साधक यही देखता है कि भौतिक शरीर और मानस के चारों खंड वस्तुतः अनित्य हैं, दु:ख हैं, अनात्म हैं। ऐंद्रिय विषयों के स्पर्श से उत्पन्न होने वाली संवेदनाएं भी अनित्य हैं, अनात्म हैं। इतना

जान लेने पर साधक विपश्यना के दूसरे चरण में इन संवेदनाओं के प्रति राग या द्वेष के संस्कार न बना कर प्रज्ञामयी समता को पुष्ट करता है। धर्मनियामता के अनुसार समता के कारण जब-जब नये कर्मसंस्कार नहीं बनते, तब-तब पुराने संचित कर्मसंस्कारों की उदीर्णा होती है, निर्जरा होती है और उनका क्षय होता है। साधक यों पूर्वसंचित कर्मसंस्कारों का भंजन करते हुए भव-विमुक्ति के मार्ग पर आगे बढ़ता जाता है। इसके विपरीत शरीर और चित्त को, इंद्रियों और ऐंद्रिय विषयों को आत्मा मानते ही उनके प्रति तादात्म्यभाव जागता है, अपनत्व जागता है, आसक्ति जागती है। कर्मबंधन के बँधने का दुःख-चक्र पुनः आरंभ हो जाता है। साधक शीघ्र होश में आता है। यों गिरते-उठते आगे बढ़ता जाता है। नितांत विमुक्ति का मार्ग बहुत लंबा है। भगवान के आदेशानुसार अंतिम मंजिल तक पहुँचते-पहुँचते साधक की साधना इस अवस्था को प्राप्त कर लेती है जहां साधक कछुए की भांति अपनी इंद्रियों को अपने भीतर समेट लेता है।

दिट्ठे दिट्ठमत्तं भविस्सति – देखने में केवल देखना रह जाता है।

सुते सुतमत्तं भविस्सति – सुनने में केवल सुनना रह जाता है।

-- *(सं०नि० २.४.९५, मालुक्यपुत्तसुत्तं)*

इसी प्रकार अन्य इंद्रियां भी अपना-अपना काम करके रुक जाती हैं।

रुक जाती हैं, माने इसके पश्चात ऐंद्रिय विषय को पहचानने, उसका मूल्यांकन करने, उसके कारण हुई सुखद-दुःखद संवेदना का अनुभव करने और कर्मसंस्कारों को प्रजनन करने का सारा प्रपंच रुक जाता है। यानी, मानस के ये बाकी अंग भीतर सिमट कर रह जाते हैं। वैसे ही जैसे कछुआ अपने अंगों को भीतर समेट कर निस्तब्ध रह जाता है। इस अवस्था के परिणामस्वरूप शरीर और चित्त के; इंद्रियों और ऐंद्रिय विषयों के निरुद्ध हो जाने से इंद्रियातीत नित्य, शाश्वत, ध्रुव, अनंत निर्वाणिक अवस्था प्रकट होती है।

इसे ही अपने यहां गीता ने भी इन्हीं शब्दों में व्यक्त किया –

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥

-- *(गीता २.५८)*

– इंद्रियां केवल ऐंद्रिय कार्यों के लिए हों। इसी काम तक सीमित रहें। आगे का सारा प्रपंच रोक लें, वैसे ही जैसे कछुआ अपने अंगों को भीतर समेट लेता है। तभी प्रज्ञा में प्रतिष्ठित माना जायगा।

अपने यहां गीता ने विपश्यना के अनेक सैद्धांतिक पक्ष तो प्रकट किये। परंतु लोगों के लिए विपश्यना के क्रियात्मक अभ्यास का व्यावहारिक पक्ष अव्यक्त ही रह गया। जब कि अपने यहां की बुद्धवाणी में विपश्यना के सैद्धांतिक और व्यावहारिक दोनों पक्षों का अत्यंत विशद विवरण के साथ वर्णन है। अब यह विद्या बहुत लंबे अंतराल के बाद अपने यहां पुनः लौटी है। इसमें साधक बताये हुए संपूर्ण पथ पर चलें तो ही स्थितप्रज्ञता के और भवमुक्त अरहंत अवस्था के एक-समान लक्षण उसके जीवन में उतरने लगते हैं। अपनी इन दोनों परंपराओं के केवल ग्रंथ पढ़ कर ही संतुष्ट न हो जायँ, बल्कि स्थितप्रज्ञ होने का सक्रिय अभ्यास करें अन्यथा वास्तविक लाभ कैसे मिलेगा भला! केवल दार्शनिक और सांप्रदायिक विवादों में ही उलझे रह जायँगे।

जब कोई पूरे मार्ग पर वस्तुतः चलता है तब देखता है– सारे मार्ग पर, यानी, अंतिम निर्वाणिक मंजिल पर, पहुँचने तक भी कहीं आत्मा या परमात्मा की मान्यता के लिए रंचमात्र भी अवकाश नहीं है। अनपके या अधपके साधक को भौतिक शरीर और मानस के चार खंडों के प्रति आत्मीयता की भ्रांति होती रहती है। वह शरीर को ही 'यह मैं हूं' या 'यह मेरी आत्मा है' मान बैठने के भ्रमजाल में फँसता है। अथवा मानस का एक हिस्सा विज्ञान है जो जानने का काम करता है उसके बारे में भ्रमित होता है कि 'मैं जान रहा हूं,' या 'मेरी आत्मा जान रही है'। संज्ञा के बारे में भ्रमित होता है कि 'मैं पहचान रहा हूं' या 'मेरी आत्मा पहचान रही है'। वेदना के बारे में भ्रमित होता है कि 'मैं संवेदना अनुभव कर रहा हूं' या 'मेरी आत्मा अनुभव कर रही है'। संस्कार के बारे में भ्रमित होता है कि 'मैं प्रतिक्रिया कर रहा हूं' या 'मेरी आत्मा प्रतिक्रिया कर रही है'। इस प्रकार

अनित्य-स्वभावी शरीर और मानस के इन पांचों स्कंधों पर तथाकथित नित्यस्वभावी आत्मा का मिथ्यारोपण करके भ्रमित होता है। ऐसा व्यक्ति वस्तुतः स्थितप्रज्ञ हुए बिना शरीर और मानस के परे नित्य शाश्वत ध्रुव परम सत्य की अवस्था तक कैसे पहुँच सकता है भला!

जब उसे आश्वासन मिले कि पापकर्मों में रत रहते हुए भी कोई है जो मुझे मुक्त कर देगा, तब वह पापकर्मों से विरत रहता हुआ, नितांत निष्पाप अवस्था तक पहुँचने का परिश्रमजन्य प्रयत्न करेगा ही क्यों भला!

इसीलिए भगवान बुद्ध ने न आत्मा को स्वीकारा, न परमात्मा को। लोक-कल्याण के लिए वे बहुत स्पष्टरूप से अनात्मवादी और अनीश्वरवादी रहे। यह तथ्य उनके विरोधियों से अनजाना नहीं था। तिस पर भी उनके जीवनकाल में और अनेक परवर्ती सदियों तक, किसी ने उन्हें और उनकी शिक्षा को नास्तिकवादी नहीं कहा। इसी प्रकार महावीर स्वामी और उनकी शिक्षा को भी सदियों तक नास्तिकवादी नहीं कहा गया। लगता है 'नास्तिक' शब्द का यह गलत अर्थ दस-पंद्रह सदियों बाद, किसी भ्रांत सांप्रदायिक माहौल में प्रचलित और प्रसारित हुआ। भ्रांत इस कारण हुआ कि अपने देश में भगवान बुद्ध की मूल वाणी और उसके सक्रिय प्रयोग की विपश्यना साधना, दोनों ही दुर्भाग्यवश सर्वथा विलुप्त हो गयीं। इन दोनों के सर्वथा अभाव में भ्रांतियां फैलीं। इन भ्रांतियों के कारण ही नये-नये बेबुनियादी आधारों के सहारे भगवान बुद्ध और उनकी शिक्षा पर नास्तिकता के आरोपण लगते रहे।

अतः 'नास्तिक' शब्द की बदलती हुई परिभाषा के रोचक इतिहास का अध्ययन कर लेना इन भ्रांतियों को दूर करने में सहायक होगा।

नास्तिक की परिभाषा का क्रमिक विकास

यास्क की व्याख्या

प्राचीन वैदिक साहित्य की छांदस भाषा में नास्तिकता की व्याख्या हमें यास्क की निरुक्ति में देखने को मिलती है। इसमें कहा गया है–

प्रमदको वा योऽयमेवास्ति लोको न पर इति प्रेप्सुः।

-- *(नि० ३.३२.१)*

ऐसे प्रमदक लोग जिनकी यह मान्यता है कि–

अयम् एव अस्ति लोको, न परः।

– यही लोक है, परलोक नहीं है।

ऐसे लोग प्रमदक कहलाते थे। क्योंकि वे अनीतिपूर्वक धन अर्जन करने के प्रमाद में रत रहने वाले विषम लोभी थे तथा उन्मुक्त कामक्रीड़ा के प्रमाद में रत रहने वाले कामकीट थे।

उन दिनों जहां 'खाओ पीओ मौज करो' की ऐसी विचारधारा के लोग रहते थे उस जनपद का नाम ही कीकटाः था। कीकटाः, यानी **किं कृताः**, यानी तथाकथित कुशल कर्म क्यों किये जायँ? अथवा **किंक्रियामि**, यानी किसी भी अच्छे या बुरे कर्म का फल कहां मिलता है? यानी, कर्मों का कोई फल नहीं मिलता। ये लोग चाहते थे कि इस जीवन में कामभोग-संबंधी स्वेच्छाचार के दुष्कर्मों के लिए खुली छूट मिले। इसीलिए मरने के बाद कर्मों का फल भोगने के लिए किसी परलोक के अस्तित्व को नकारते थे। इसी कारण नास्तिक कहलाते थे। वैदिक युग में आत्मा या परमात्मा के अस्तित्व को नकारने के कारण किसी को नास्तिक कहे जाने का कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता।

नचिकेता

कठोपनिषद में वैदिक युग का नचिकेता यम से प्रश्न करता है – 'कोई कहते हैं मनुष्य मरने के बाद रहता है। कोई कहते हैं नहीं रहता। मुझे इस रहस्य के बारे में जिज्ञासा है।' अर्थात, उन दिनों कुछ लोगों में यह जिज्ञासा अवश्य थी कि परलोक है या नहीं, क्योंकि तब तक उन दिनों सर्वसाधारण जनता में यह व्याख्या प्रसिद्ध हो चुकी थी कि परलोक के अस्तित्व में विश्वासी आस्तिक और अविश्वासी नास्तिक होते हैं। अतः परलोक के अस्तित्व के संबंध में किसी के द्वारा प्रश्न किया जाना प्रासंगिक था। स्पष्ट है कि उस युग में आस्तिकता और नास्तिकता के लिए आत्मा और परमात्मा की मान्यता या अमान्यता की कोई बात ही नहीं थी। अतः इसकी कहीं कोई चर्चा नहीं थी। कोई प्रश्न नहीं था।

पुरातन श्रमणकालीन व्याख्या

पुरातन श्रमण युग में भी हमने देखा कि आजीवक आचार्य अचेलक काश्यप भी इसी माने में नास्तिक था कि वह परलोक के और कर्मफल के अस्तित्व को नकारता हुआ उन्मुक्त स्वैराचार का समर्थक था। इस कारण नास्तिक नहीं था कि वह आत्मा या परमात्मा के अस्तित्व को नकारता है।

बुद्धकालीन व्याख्या

हमने देखा कि भगवान बुद्ध के जीवनकाल में भी उन दिनों के नास्तिकवादी आचार्य परलोक, पुनर्जन्म और कर्मसिद्धांत को नकारने के कारण ही नास्तिक कहलाते थे। भगवान बुद्ध आत्मा और परमात्मा के अस्तित्व को स्पष्टतया अस्वीकार करते थे। भगवान महावीर भी ईश्वर के अस्तित्व को अस्वीकार करते थे। परंतु इस कारण उन्हें किसी ने कभी नास्तिक कह कर लांछित नहीं किया। बल्कि उन दिनों की नास्तिकता की परिभाषा के विपरीत वे दोनों ही पुनर्जन्म और परलोक के और कर्मानुकूल फल प्राप्त होने के नैसर्गिक नियमों को स्वीकारते हुए शील-सदाचार की

शिक्षा देते थे। अतः परम आस्तिक थे। ऐसे आस्तिकों को मूढ़ कह कर उन दिनों का नास्तिकाचार्य अजित केसकंबल उनका उपहास करता देखा गया।

पाणिनि की व्याख्या

यास्क की निरुक्ति के पश्चात नास्तिक शब्द की एक अन्य स्पष्ट व्याख्या भगवान बुद्ध के लगभग १५० वर्ष पश्चात आचार्य पाणिनि के अष्टाध्यायी व्याकरण में की गयी, जहां उसने कहा –

अस्तिनास्तिदिष्टं मतिः।

-- *(अष्टा० ४.४.६०)*

– यानी, जो (परलोक के) अस्तित्व को स्वीकारते हैं – वे आस्तिक।

जो (परलोक के) अस्तित्व को नकारते हैं और जो दृश्यमान है केवल उसे ही स्वीकारते हैं, वे नास्तिक।

इस समय तक भी नास्तिक शब्द का आत्मा-परमात्मा से कोई संबंध नहीं था।

पतंजलि की व्याख्या

पाणिनि के लगभग १०० वर्ष और सम्राट अशोक के लगभग ५० वर्ष बाद पुष्यमित्र शुंग के राजपुरोहित पतंजलि ने पाणिनि के अष्टाध्यायी व्याकरण पर भाष्य लिखा। उसने भी मूल पाणिनि व्याख्या को ही स्वीकारा। आस्तिक-नास्तिक शब्दों की व्याख्या को आत्मा-परमात्मा के साथ नहीं जोड़ा।

काशिका की व्याख्या

पाणिनि ने आस्तिक-नास्तिक की जो यह परिभाषा दी उस पर सातवीं शताब्दी में पंडितवर जयादित्य द्वारा पाणिनि-सूत्रों पर लिखी गयी प्रसिद्ध 'काशिका-वृत्ति' में निम्नलिखित विवेचन प्रस्तुत किया गया –

परलोकोऽस्तीति यस्य मतिरस्ति स आस्तिकः। तद्विपरीतो नास्तिकः। प्रमाणानुपातिनी यस्य मतिः स दैष्टिकः।

-- *(काशिका ४.४.६०)*

– अर्थात, परलोक है – इस प्रकार की मति है जिसकी वह आस्तिक। इसके विपरीत नास्तिक। प्रमाण का अनुपतन (अनुसरण) करनेवाली मति है जिसकी वह दैष्टिक।

प्रमाण वही है जो प्रत्यक्ष है। अतः जो दृश्य जगत है उसे ही प्रमाण मानने की जिसकी मति है वह दैष्टिक।

प्रदीप टीका की व्याख्या

नौवीं सदी के आचार्य कैयट ने पातंजल महाभाष्य की प्रदीप टीका में लिखा है 'परलोक है यह मति है जिसकी वह आस्तिक है और तद्विपरीत, अर्थात, परलोक नहीं है, यह मति है जिसकी वह नास्तिक है।'

इससे सिद्ध है कि नौवीं शताब्दी तक भी नास्तिक शब्द की पुरातन मूल व्याख्या ही पंडितों द्वारा स्वीकृत रही।

शिशुपालवध की व्याख्या

आठवीं सदी में महाकवि माघ ने 'शिशुपालवध' नामक ग्रंथ की रचना की। इसकी व्याख्या महोपाध्याय मल्लिनाथ सूरी ने १४ वीं सदी में की। इस व्याख्या में भी नास्तिक का अर्थ पुरातन काल से चला आ रहा – **नास्ति परलोकः** ही दिया गया है।

इसमें भी आत्मा-परमात्मा के मानने, न मानने का कहीं कोई उल्लेख नहीं है।

अमरकोश की व्याख्या

छठी शताब्दी में 'अमरकोश' की रचना हुई। इसमें 'नास्तिकता' को 'मिथ्यादृष्टि' बतलाया गया है – '**मिथ्यादृष्टिर्नास्तिकता**'।

-- *(अमर० १.४)*

इसकी व्याख्या करते समय भानुजि दीक्षित ने स्पष्ट किया है – **'नास्ति परलोक इति मतिरस्य'**। इसमें भी परलोक के अस्तित्व को न मानने को ही नास्तिकता कहा गया।

आगे जाकर निम्नलिखित विद्वानों ने इसके भाष्य लिखे –

जातरूप – १० वीं सदी।

सुभूति – १२ वीं सदी।

सर्वानंद – १२ वीं सदी।

लिङ्गसूरि – १३ वीं सदी।

रायमुकुट – १५ वीं सदी।

भानुजि दीक्षित – १८ वीं सदी।

अपने-अपने भाष्य में इन सब ने यही एक जैसी व्याख्या की कि जो परलोक को न माने वह नास्तिक। इन भाष्यों में से किसी में भी कहीं आत्मा-परमात्मा का उल्लेख नहीं है।

हम देखते हैं कि लगभग ३,००० वर्ष पूर्व के वैदिक युग की छांदस भाषा से लेकर १८ वीं सदी के अमरकोश के भाष्यों तक विद्वानों की अविच्छिन्न रूप से नास्तिकता की एक ही परिभाषा चली आती रही है कि जो परलोक के अस्तित्व को न माने वह नास्तिक।

परलोक को नकारने की नास्तिकता उन धर्म-विरोधी तत्त्वों की रही है जो कि कर्मसिद्धांत के अनुसार पाप और पुण्य के खट्टे-मीठे फल प्राप्त होने के नैसर्गिक नियम को अस्वीकार करते रहे हैं। इस जीवन में सत्कर्म करने वाले अनेक लोग विभिन्न प्रकार के दु:खों में से गुजरते हुए और दुष्कर्म करने वाले मौज-मजे का जीवन जीते हुए प्रत्यक्ष देखे जाते हैं। जब उन्हें कोई कहे कि वे

अपने पूर्वजन्मों के कुछ कर्मों का फल इस जीवन में भोग रहे हैं और इस जीवन के कुछ कर्मों का फल आगे के जन्मों में भोगेंगे, तब वे इस कथन का उपहास करते थे और प्रत्यक्ष को प्रमाण मानने का दावा करते हुए कहते थे –

प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणम्। -- *(बा०सू० २०)*

और इसीलिए कहते थे –

नास्ति परलोकः। -- *(बा०सू० २९)*

– परलोक नहीं है।

अपनी इस मान्यता के बल पर वे स्वयं इसकी छूट ले लेते थे कि जब जन्म से लेकर मृत्यु तक का ही जीवन है तब गलत या सही किसी भी प्रकार से सुख की ही जिंदगी बितायें।

यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य, पुनरागमनं कुतः॥

-- *(बा०सू० ४५)*

– जब तक जीएं सुख से जीएं। पीएं घी ही, चाहे ऋण लेकर ही पीएं। भस्मीभूत देह का पुनरागमन कहां होता है?

ऐसे लोग उन्मुक्त कामभोग को ही जीवन का सबसे बड़ा सुख मानते थे और इसी में लिप्त रहने को जीवन की सफलता मानते थे।

काम एवैकः पुरुषार्थः। -- *(बा०सू० ५)*

– काम-भोग ही जीवन का एकमात्र पुरुषार्थ है। अतः यही श्रेयस्कर है।

अङ्गनालिङ्गनाज्जन्यसुखमेव पुमर्थता। -- *(सर्व० १.४)*

– कामिनी के आलिंगन से उत्पन्न सुख पुरुषार्थ का लक्षण है।

वे सदाचरण के जीवन को तुच्छ मानते थे, मूर्खतापूर्ण मानते थे। दुराचरण के जीवन में कोई दोष नहीं देखते थे। अतः उसमें बेझिझक रमण करते थे। लोगों को भी यही सिखाते थे –

धर्मः कामात्परो न हि।

– काम के परे कोई धर्म नहीं।

न धर्मांश्चरेत्।

-- *(बा०सू० ९)*

– अन्य कोई धर्माचरण न करें। धर्माचरण निष्फल है। धर्माचरण का तत्काल लाभ कहां मिलता है?

वस्तुतः ऐसी विचारधारा और जीवन शैली के लोग ही नास्तिक कहलाते थे।

जो नास्तिकता की इस पुरातन पारंपरिक परिभाषा की सच्चाई को जानते थे वे बुद्ध और महावीर के घोर विरोधी भी उन पर नास्तिकता का मिथ्या आरोप कैसे लगा सकते थे? यह सर्वविदित था कि ये दोनों महान आचार्य सुकृत और दुष्कृत के सत्फल और दुष्फल के नैसर्गिक नियमों को स्वीकारते थे। इन्हें भोगने के लिए लोक के साथ-साथ परलोक के अस्तित्व को स्वीकारते थे। इसके लिए पुनर्जन्म को स्वीकारते थे। दोनों ही धर्माचरण की शिक्षा देते थे। काम-भोगों के दुराचरण से विरत रहने की शिक्षा देते थे। अतः आस्तिकता और नास्तिकता की पुरातन युक्तिसंगत परिभाषा के अनुसार ये दोनों महामानव परम आस्तिक थे। ऐसे आस्तिक थे कि जिनकी आस्तिकता पर उन दिनों का अजित केसकंबल जैसा नास्तिकाचार्य उपहास करता था। तिस पर भी विरोधियों द्वारा इन दोनों को किसी प्रकार नास्तिक तो सिद्ध करना ही था। अतः नास्तिकता की एक और नयी परिभाषा प्रचलित की गयी जो सदियों तक चली। वह थी – **नास्तिको वेदनिन्दकः।**

-- *(मनु० २.११)*

नास्तिको वेदनिन्दकः

परलोक के अनस्तित्व तथा कामभोग की स्वच्छंदता को लेकर नास्तिकता का लांछन वेदकालीन प्रमदकों और बृहस्पति तथा उसके शिष्यों चार्वाकवादियों पर यथार्थतः लागू होता है। परंतु इसे लेकर बिना ही कारण, निपट भ्रांतिवश यह लांछन बुद्ध पर भी थोप दिया गया। वैसे ही **'नास्तिको वेदनिन्दकः'** का लांछन भी चार्वाकों[३] के लिए ही प्रचलित हुआ। परंतु महज नासमझी के कारण ही इसे भी बुद्ध पर थोपा गया।

हम देखते हैं कि बृहस्पति और चार्वाक प्रबल वेद-निंदक थे। वे विकट तार्किक थे। उनकी उक्तियां अकाट्य और अभिव्यक्तियां सशक्त थीं। इसीलिए आगे जाकर स्वामी माधवाचार्य ने घोषित किया –

दुरुच्छेदं हि चार्वाकस्य चेष्टितम्।

-- *(सर्व० १, आरंभ)*

– चार्वाक के खंडन की चेष्टा दुष्चेष्टा मात्र है।

चार्वाकवादी विभिन्न तर्कों और युक्तियों द्वारा सिद्ध करते थे कि वेद न अनादि हैं, न नित्य, न अपौरुषेय, न प्रामाणिक हैं और न आदर्श। वे वेद की कटुतापूर्ण तीव्र निंदा करते थे, कड़वी आलोचना करते थे, **सर्वथाभावेन** घोर छिद्रान्वेषण और स्पष्टतया नग्न उपहास करते थे। बुद्ध ने वेदों के प्रति ऐसे अशोभनीय निंदा के शब्द कभी नहीं कहे। तिस पर भी न जाने किन

---

३ *पाद-टिप्पणी –*

अभिधानचिन्तामणि में चार्वाकों के चार नाम गिनाये हैं –

"बार्हस्पत्यस्तु नास्तिकः चार्वाको लौकायतिकः।"

-- *(अभिधान०, ३.५२६-५२७)*

चार्वाकों के चार नाम : १. बार्हस्पत्य, २. नास्तिक,

३. चार्वाक, ४. लौकायतिक

कारणों से प्रेरित होकर उन्हें वेदनिंदक नास्तिकों की श्रेणी में बैठा कर लांछित किया गया।

बृहस्पति और उनके शिष्य चार्वाक की वेदनिंदा के चंद उदाहरण देखें –

धूर्त्तप्रलापस्त्रयी। -- *(बा०सू० ३३)*

– ऋक्, साम और यजुः – ये तीनों वेद धूर्तों के प्रलापमात्र हैं।

अग्निहोत्रं त्रयो वेदास्त्रिदण्डं भस्मगुण्ठनम्।
बुद्धिपौरुषहीनानां जीविका धातृनिर्मिता॥

-- *(सर्व० १.१३)*

– हवन यज्ञ, तीनों वेदों का पाठ, दंडयुक्त संन्यास, शरीर में भस्मलेपन के क्रियाकलाप बुद्धि और पुरुषार्थहीन लोगों की आजीविका के लिए निर्मित किये गये हैं।

पशुश्चेन्निहतः स्वर्गं ज्योतिष्टोमे गमिष्यति।
स्वपिता यजमानेन तत्र कस्मान्न हिंस्यते?

-- *(सर्व० १.१४)*

– वैदिक विधि से ज्योतिष्टोम यज्ञ में बलि चढ़ाया गया पशु यदि स्वर्ग चला जाता है तो यज्ञकर्ता यजमान स्वयं अपने पिता की बलि चढ़ा कर उसे ही स्वर्ग क्यों नहीं भेज देता?

यदि श्राद्ध करके भोजन दान देने से स्वर्गस्थ प्राणियों की तृप्ति और पुष्टि होती है तो –

गच्छतामिह जन्तूनां व्यर्थं पाथेयकल्पनम्।
गेहस्थकृतश्राद्धेन पथि तृप्तिरवारिता॥

-- *(सर्व० १.१६)*

– घर से यात्रा के लिए निकले व्यक्तियों को पथ के लिए भोजन साथ देना व्यर्थ है। घर पर ही उनके नाम से श्राद्ध करके किसी को भोजन करा दे तो इसी से उन यात्रियों की तृप्ति होती रहेगी।

ततश्च जीवनोपायो ब्राह्मणैर्विहितस्त्विह।
मृतानां प्रेतकार्याणि न त्वन्यद्विद्यते क्वचित्॥

-- *(सर्व० १.२०)*

– मृतकों के लिए जो श्राद्ध आदि प्रेतक्रियाएं की जाती हैं वे निरर्थक हैं। इसे ब्राह्मणों ने इस लोक में अपने जीविकोपार्जन का उपाय बनाया है।

न स्वर्गो नाऽपवर्गो वा नैवात्मा पारलौकिकः।
नैव वर्णाश्रमादीनां क्रियाश्च फलदायिकाः॥

-- *(सर्व० १.१२)*

– न कहीं स्वर्ग है, न अपवर्ग यानी, न मोक्ष है और न कोई परलोकगामी आत्मा है। ब्राह्मण आदि चार वर्णों और ब्रह्मचर्य आदि चार आश्रमों की क्रियाएं कोई फल प्राप्त नहीं करातीं। अतः निरर्थक हैं।

त्रयो वेदस्य कर्त्तारो भण्डधूर्तनिशाचराः।
जर्भरीतुर्फरीत्यादि पण्डितानां वचः स्मृतम्॥

-- *(सर्व० १.२१)*

– तीनो वेदों के रचयिता भंड धूर्त्त और निशाचर थे। जर्भरी तुर्फरी आदि अप्रचलित और अर्थहीन शब्दों के द्वारा इन धूर्तों ने लोगों को ठगा है।

यह उक्ति इस ऋचा की ओर इंगित करती है।

सृण्येव जर्भरी तुर्फरीतू नैतोशेव तुर्फरी पर्फरीका।
उदन्यजेव जेमना मदेरू ता मे जराय्वजरं मरायु॥

-- *(ऋ० १०.१०६.६)*

और शिष्टाचार की सभी मर्यादाओं को ठुकरा कर यहां तक कह दिया –

मांसानां खादनं तद्वन्निशाचरसमीरितम्॥

-- *(सर्व० १.२२)*

– यज्ञ में मांसभक्षण का जो विधान है वह भी इन मांसभोजन प्रेमी निशाचरों द्वारा ही प्रतिपादित किया गया है।

ऐसे ही और भी कटु शब्दों में इन चार्वाकों ने वेदनिंदा की है। इस वेदनिंदा के कारण उन्हें **'नास्तिको वेदनिन्दकः'** कहा जाना उपयुक्त ही था। परंतु यह लांछन भगवान बुद्ध पर क्यों लगाया गया? सिवाय द्वेष-प्रदर्शन के इसका कोई उत्तर नहीं हो सकता।

वेदों में अहिंसा

ये देखे हमने बृहस्पति और चार्वाक के द्वारा वेदनिंदा किये जाने वाले थोड़े से वे उदाहरण, जो कि अत्यंत द्वेष, दुर्भावना और कड़ुवाहटभरी वाणी से दूषित हैं। इनका एकमात्र उद्देश्य वेद और वैदिक पुरोहितों के प्रति घृणा पैदा करना था और अपने लिए स्वैराचार की छूट लेनी थी। इसके मुकाबले बुद्धकालीन वैदिक समाज में जिन बुराईयों का अमांगलिक समावेश हो गया था उसे महाकारुणिक भगवान बुद्ध ने अत्यंत सौम्य, संयत, शिष्ट और सत्यवाणी से निष्कासित करने का पुनीत प्रयास किया।

अपने यहां भारत में पुरातन वेदों की धर्ममयी ऋचाओं में प्राणीहिंसा से विरत रहने के अनेक मंगल उद्घोष हैं। लेकिन जब उन्हीं वेदों में मूक पशुओं के साथ-साथ निरपराध मनुष्यों तक की बलि देकर यज्ञ की पावन भूमि को बूचड़खाने का-सा घृणित रूप दिये जाने का दुष्प्रचलन हुआ, तब उसे दूर करना आवश्यक था। भगवान बुद्ध ने अपने मंगलमय उपदेशों से यही किया। स्पष्ट है कि यह अधार्मिक हिंसक कर्मकांड आरंभ में नहीं था। तभी यास्क ने निरुक्त में कहा –

अध्वर इति यज्ञनाम। ध्वरतिर्हिंसाकर्मा तत्प्रतिषेधः।

-- *(नि० १.८)*

– यज्ञ में हिंसा का निषेध है।

भगवान बुद्ध ने भी यही बताया –

वैदिक युग के प्रारंभिक काल में ब्राह्मण धार्मिक थे, चरित्रवान थे, निर्लोभी थे। अतः पवित्र अहिंसक यज्ञ ही करते-करवाते थे।

तण्डुलं सयनं वत्थं, सप्पितेलञ्च याचिय।
धम्मेन समोधानेत्वा, ततो यञ्ञमकप्पयुं।
उपट्ठितस्मिं यञ्ञस्मिं, नास्सु गावो हनिंसु ते॥

– तब उन्होंने धार्मिक रीति से चावल, बिछौना, वस्त्र, घी और तेल की याचना कर, उन्हें एकत्र कर यज्ञ का संविधान किया। उन्होंने उस उपस्थित यज्ञ में गौवों की हत्या नहीं की।

भगवान बुद्ध गौवों की महत्ता को जानते, समझते थे। तभी कहा –

यथा माता पिता भाता, अञ्ञे वापि च ञातका।
गावो नो परमा मित्ता, यासु जायन्ति ओसधा॥

– जैसे माता-पिता, भाई या अन्य बंधु-बांधव हैं, वैसे ही गौवें हमारी परम मित्र हैं जिनसे कि ओषधियां उत्पन्न होती हैं।

अन्नदा बलदा चेता, वण्णदा सुखदा तथा।
एतमत्थवसं ञत्वा, नास्सु गावो हनिंसु ते॥

– ये अन्न, बल, वर्ण (सौंदर्य) तथा सुख देने वाली हैं, इस बात को जानकर उन दिनों के याज्ञिकों ने गौवों की हत्या नहीं की।

सुखुमाला महाकाया, वण्णवन्तो यसस्सिनो।
ब्राह्मणा सेहि धम्मेहि, किच्चाकिच्चेसु उस्सुका।
याव लोके अवत्तिंसु, सुखमेधित्थयं पजा॥

– कोमल, विशालकाय, सुंदर तथा यशस्वी ब्राह्मण इन धर्मों से युक्त हो अपने करणीय कर्तव्यों में जब तक लगे रहे, तब तक यह प्रजा सुखी रही।

परंतु यह अवस्था बहुत दिनों तक कायम नहीं रही। शीघ्र ही यज्ञों में हिंसा का समावेश होने लगा।

ततो च राजा सञ्ञत्तो, ब्राह्मणेहि रथेसभो।
अस्समेधं पुरिसमेधं, सम्मापासं वाजपेय्यं निरग्गळं।
एते यागे यजित्वान, ब्राह्मणानमदा धनं॥

– तब रथपति राजा ने ब्राह्मणों द्वारा समझाये जाने पर अश्वमेध, नरमेध, सम्मापास, वाजपेय (नशीले यज्ञ), निरर्गल (सर्वमेध) – जैसे यज्ञों को संपन्न करवा कर ब्राह्मणों को धन दिया।

बुराई यहीं तक सीमित नहीं रही। यज्ञों में बुराई बढ़ी।

ततो च राजा सञ्जत्तो, ब्राह्मणेहि रथेसभो।
नेका सतसहस्सियो, गावो यञ्ञे अघातयि॥

– तब उन ब्राह्मणों द्वारा समझाये जाने पर रथपति राजा ने यज्ञ में अनेक सैंकड़ों हजारों गौवों का वध किया।

न पादा न विसाणेन, नास्सु हिंसन्ति केनचि।
गावो एळकसमाना, सोरता कुम्भदूहना।
ता विसाणे गहेत्वान, राजा सत्थेन घातयि॥

– जो गौवें न पैर से, न सींग से और न किसी अन्य अंग से हिंसा करती हैं, जो भेड़ के समान सीधी हैं और घड़ेभर दूध देने वाली हैं, उन्हें सींगों से पकड़ कर राजा ने शस्त्र से मारा।

यह देख कर अनेक लोग व्याकुल हुए।

ततो देवा पितरो च, इन्दो असुररक्खसा।
अधम्मो इति पक्कन्दुं, यं सत्थं निपती गवे॥

– देवता, पितर, इंद्र, असुर तथा राक्षस चिल्ला उठे –'यह अधर्म हुआ जो गौवों पर शस्त्रघात हुआ।'

इस भयंकर दुष्कर्म के दुष्फल भी शीघ्र प्रकट होने लगे।

तयो रोगा पुरे आसुं, इच्छा अनसनं जरा।
पसूनञ्च समारम्भा, अट्ठानवुतिमागमुं॥

– पहले केवल तीन रोग थे – इच्छा, भूख और बुढ़ापा। पशुओं की हत्या से (चक्षुरोग आदि भेद से) अट्ठानबे हो गये।

एसो अधम्मो दण्डानं, ओक्कन्तो पुराणो अहु।
अदूसिकायो हञ्ञन्ति, धम्मा धंसन्ति याजका॥

भगवान ने कहा – यह हिंसारूपी अधर्म पुराने समय से अब तक चला आ रहा है। पुरोहित निर्दोष गौवों की हत्या करते हैं और धर्म से भ्रष्ट होते हैं।

-- *(सु०नि० २९७-३००, ३०५, ३१०-३१४, ब्राह्मणधम्मिकसुत्तं)*

यज्ञों के पतन का लगभग यही क्रम हम अपने यहां भारत की वैदिक परंपरा के वाङ्मय में भी देखते हैं।

वेदों में हिंसा से विरत रहने के स्पष्ट आदेश दिये गये हैं, जैसे कि –

मा हिंसीः पुरुषं जगत्।

– जगत में किसी मनुष्य की हिंसा मत करो।

-- *(यजु० १६-३)*

इमं मा हिंसीर्द्विपादं पशुं।
मयुं पशुं, इमं मा हिंसीरेकशफं पशुं॥

-- *(यजु० १३, ४७, ४८)*

– दो पैर वाले जानवर और मनुष्य की हिंसा मत करो। एक खुर वाले पशु की हिंसा मत करो।

गां मा हिंसीरदितिं विराजम्।

– माता अदिति-स्वरूपा शोभायमान गौ की हिंसा मत करो।

-- *(यजु० १३.४३)*

इमं साहस्रं शतधारमुत्सं व्यच्यमानं सरिरस्य मध्ये।
घृतं दुहानामदितिं जनायाग्ने मा हिंसीः परमे व्योमन्॥

-- *(यजु० १३.४९)*

– हे अग्ने (दया को प्राप्त हुए परोपकारी राजन)! जो सैकड़ों तथा हजारों का धारण और पोषण करने वाली है, जो दूध का कुआं है, जो लोगों के लिए घृत देने वाली है, जो न काटने योग्य गौ है, उसकी हिंसा न कर।

अन्तकाय गोघातम्।

-- *(यजु० ३०.१८)*

– गोघाती को प्राणदंड हो।

इसके अतिरिक्त अन्य अनेक स्थानों पर वेदों में हिंसा को वर्जित बताया गया है। इतने स्पष्ट निर्देश दिये जाने पर भी आगे जाकर दुर्भाग्य से शुद्ध सात्त्विक यज्ञों में पशुओं की बलि चढ़ाई जाने लगी। इन पशुओं में भी

जब गौओं की बलि चढ़ने लगी तब अनेक गौ-प्रेमियों के मन को गहरा धक्का लगा और वे मर्माहत हो उठे।

धर्म के नाम पर पशु-हत्या आरंभ हुई, यही अनर्थ हुआ, अधर्म हुआ। परंतु जब धर्म के नाम पर गौ-हत्या आरंभ हुई, तब तो घोर अनर्थ हुआ, घोर अधर्म हुआ। धर्म की आड़ में चल रहे इस अनर्थ और अधर्म को रुकवाना ही भगवान बुद्ध को अभीष्ट था, ताकि इस भयावह दोष में डूबे हुए समाज को दोषमुक्त किया जा सके। उनका उद्देश्य तो सुधार करना था, न कि निंदा करना।

जहां-जहां अवसर आया, भगवान ने इस दूषित प्रथा को दूर करने का भरसक प्रयत्न किया। विग्रह-विवाद और द्वेष-द्रोह से दूर रहकर बड़े प्यार से समझाये जाने पर देश के अनेक प्रमुख व्यक्तियों ने उनकी शिक्षा को स्वीकार कर लिया। अन्य अनेक लोग भी सच्चाई को समझने लगे। उनको अब यह दलील मान्य नहीं रही कि जिस पशु की बलि दी जा रही है, वह मरने पर सीधा स्वर्ग पहुँचेगा तथा जो यजमान बलि चढ़ाता है और जो पुरोहित बलि-कर्म करवाता है, वे भी मरने पर स्वर्गगामी होंगे। **'वेदविहिता हिंसा... अहिंसामेव'** का भ्रामक प्रचार भी उन दिनों के धर्मप्रेमी लोगों द्वारा स्वीकृत नहीं हुआ। परिणामस्वरूप हिंसक यज्ञ बंद होने लगे। इसी कारण थोड़े कर्मकांडी पुरोहितों की आजीविका को अवश्य धक्का लगा। स्पष्ट है कि इससे उन्हें बुद्ध की शिक्षा अप्रिय लगने लगी। वे बुद्ध का विरोध करने लगे। परंतु सच तो यह है कि जैसे हमने देखा, वेदों ने भी अहिंसा धर्म का प्रबल समर्थन किया है। भारत की ब्राह्मणी और श्रमणी दोनों पुरातन परंपराओं ने जिस पावन अहिंसा धर्म की महत्ता को सहर्ष स्वीकार किया था वह, किसी भी कारण से, इन दोनों में से इस एक परंपरा में वह विनष्ट हो गयी थी। भगवान बुद्ध ने बड़े करुणचित्त से उसकी पुनर्स्थापना की। इस कारण उन्हें दोषी कैसे कहा जा सकता है? भगवान बुद्ध ने सर्वमान्य अहिंसा धर्म को पुनर्प्रतिष्ठित किया। इस पुण्य प्रयास में उन्होंने चार्वाकवादियों की भांति अश्लील, अभद्र और घृणा फैलाने वाली दुर्भावनाभरी शब्दावली का प्रयोग नहीं किया।

भगवान बुद्ध का शुभ उद्देश्य अपने यहां के वैदिक कर्मकांडों में प्रविष्ट हुई विकृति को दूर करना था, न कि वेद की निंदा करना। इस सत्प्रयास में उनको जो सफलता मिली उसे अभिनंदनीय माना जाना चाहिए था, परंतु उन दिनों समाज के एक वर्ग के चंद लोगों द्वारा इसे निंदनीय कहा गया। भारतीय आर्यधर्म और संस्कृति के विनाशक नास्तिक चार्वाकवादियों के साथ निम्नतम श्रेणी में बैठाकर अपने परम पूज्य भगवान बुद्ध को **"नास्तिको वेदनिन्दकः"** कह कर लांछित किया गया। जब कि सच्चाई यह है कि केवल भगवान बुद्ध ने ही नहीं, बल्कि अपने यहां की वैदिक परंपरा के अधिकांश परवर्ती साहित्य में भी हिंसक यज्ञों को निकृष्ट बताया गया है।

महाभारत ने हिंसक यज्ञ को अस्वीकार्य किया

महाभारत में यह उल्लेख है कि स्वयं ब्रह्मा ने महर्षियों के सम्मुख यह तुमुल उद्घोष किया –

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि नियतं धर्मलक्षणम्।
अहिंसा परमो धर्मो हिंसा चाधर्मलक्षणा॥

-- *(आश्वमेधिकपर्व ४३.२०-२१)*

– इसके बाद मैं धर्म के नियत लक्षण के बारे में कहूंगा – "अहिंसा परम (उत्कृष्ट) धर्म है और हिंसा है अधर्म-लक्षणा।"

इस घोषणा के रहते धार्मिक यज्ञों में हिंसा के लिए कोई स्थान नहीं ही था।

इसके अतिरिक्त अनुशासनपर्व में भी यह स्पष्ट रूप से कहा गया है –

अहिंसा लक्षणो धर्म इति वेदविदो विदुः।
यदहिंस्रं भवेत्कर्म तत्कुर्यादात्मवान्नरः॥

-- *(अनुशासनपर्व १०१.१३)*

– धर्मज्ञ (वेदज्ञ) पुरुष यह जानते हैं कि अहिंसा ही धर्म का लक्षण है। मनस्वी पुरुष वही कर्म करे जो अहिंसात्मक हो।

इस आदेश के रहते कोई धर्मज्ञ व्यक्ति, यज्ञ जैसे धार्मिक अनुष्ठान में धर्म-विरोधी हिंसात्मक कर्म कैसे कर सकता है?

अहिंसा की प्रशस्ति में यह भी कहा गया कि –

अहिंसा परमो यज्ञः।

– अहिंसा परम यज्ञ है। -- *(अनुशासनपर्व १०१.३८)*

जब अहिंसा अपने आप में परम यज्ञ है, तब यज्ञ में हिंसा को स्थान कहां भला!

यों यज्ञ में हिंसा को सर्वथा अस्वीकार किये जाने पर भी दुर्भाग्यवश बहुत पुरातन समय में ही इसका समावेश कर लिया गया। इसके साक्षी-स्वरूप एक प्रसंग हमारे सामने है जहां ऋषियों ने कहा –

नैष धर्मः सतां देवा यत्र वध्येत वै पशुः।
इदं कृतयुगं श्रेष्ठं कथं वध्येत वै पशुः॥

-- *(शांतिपर्व ३३७.५)*

– देवताओ! जहां कहीं भी यज्ञ में पशु का वध हो, वह सत्पुरुषों का धर्म नहीं है। यह श्रेष्ठ सत्ययुग चल रहा है। इस में पशु का वध कैसे किया जा सकता है?

मनस्वी धर्मज्ञ ऋषियों द्वारा हजार न चाहते हुए भी जिसे सत्ययुग कहा गया उस अत्यंत पुरातन काल से ही यज्ञों में पशुबलि का अधर्म आरंभ हो चुका था।

ये उद्गार इस तथ्य को उजागर करते हैं कि प्रारंभिक काल में वेद हिंसक यज्ञों की कलुषता से सर्वथा विमुक्त थे। यह दोष बाद में समाविष्ट हुआ। इसी कारण युधिष्ठिर के प्रश्न करने पर भीष्म पितामह ने समझाया।

अहिंसकानि भूतानि दण्डेन विनिहन्ति यः।
आत्मनः सुखमन्विच्छन् स प्रेत्य न सुखी भवेत्॥

-- *(अनुशासनपर्व ११३.५)*

– अपने सुख की चाह में जो अहिंसक प्राणियों पर आघात करता है, उनकी हत्या करता है, वह मरने के बाद सुखी नहीं होता।

इस कथन में इस मान्यता का स्पष्ट खंडन है कि हिंसक यज्ञ करने से स्वर्गीय सुख प्राप्त होता है। बल्कि सच्चाई यह है कि हिंसक यज्ञों के परिणाम दुःखद ही होते हैं।

भीष्म पितामह के विचारों से सहमति प्रकट करते हुए युधिष्ठिर ने भी कहा –

ऋषयो ब्राह्मणा देवाः प्रशंसन्ति महामते।
अहिंसालक्षणं धर्मं वेदप्रामाण्यदर्शनात्॥

-- *(अनुशासनपर्व ११४.२)*

– हे महामते! ऋषि, ब्राह्मण और देवता प्रशंसापूर्वक कहते हैं कि वेद के प्रमाणस्वरूप अहिंसा धर्म का लक्षण है।

यह सचमुच दुर्भाग्य की बात हुई कि जो वेद कभी अहिंसा को धर्म का लक्षण प्रमाणित करते थे, उन्हीं में अधर्ममय हिंसक यज्ञों का समावेश हो गया।

कहां अहिंसा की उदात्त भावनाओं के उद्‌बोधक वैदिक ऋचाओं के मंगल गीत! और कहां पावन यज्ञस्थलियों पर निर्मम निर्दय हाथों द्वारा वध किये जाते हुए पशुओं की चीख-चीत्कार, कराह-पुकार! निरपराध प्राणियों की मरणांतक पीड़ा का अमांगलिक रुदन-क्रंदन! कैसा दुर्भाग्य था यह! अहिंसा के सत्य धर्म का कितना ह्रास हुआ! कितना विनाश हुआ!

यज्ञों की पवित्रता को पशुबलि द्वारा अपवित्र किया जाना समझदार लोगों के लिए कितना पीड़ाजनक रहा इस विषय पर किसी एक प्रसंग में भीष्म पितामह ने कहा –

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
प्रजानामनुकम्पार्थं गीतं राज्ञा विचख्नुना॥

-- *(शांतिपर्व २६५.१)*

– प्राचीन काल में राजा विचख्नु ने समस्त प्राणियों पर अनुकंपा करते हुए जो उद्गार प्रकट किये थे, संबंधित प्रसंगों में जानकार लोग उस प्राचीन इतिहास का उदाहरण दिया करते हैं।

भीष्म पितामह ने भी लोक-कल्याण के लिए इस घटना का उदाहरण दिया।

छिन्नस्थूणं वृषं दृष्ट्वा विलापं च गवां भृशम्।
गोग्रहे यज्ञवाटस्य प्रेक्षमाणः स पार्थिवः॥

-- *(शांतिपर्व २६५.२)*

– एक समय किसी यज्ञशाला में राजा ने देखा कि एक वृषभ की गरदन कटी हुई है और वहां बहुत-सी गौवें आर्तनाद कर रही हैं। यज्ञशाला के प्रांगण में अन्य अनेक गौवें बँधी हुई खड़ी हैं।

इन गौ-माताओं का हृदय-विदारक आर्तनाद सुन कर उस धार्मिक राजा का हृदय भी चीत्कार कर उठा। उसने गौवों के प्रति मंगल-कामना के उद्गार प्रकट किये –

'स्वस्ति गोभ्योऽस्तु लोकेषु।'

-- *(शांतिपर्व २६५.३)*

– संसार में सभी गौवों की स्वस्ति हो!

उसने ऐसी निर्दयी हिंसा का निषेध करते हुए ये धर्ममय विचार प्रकट किये कि हीनवृत्ति के लोग ही ऐसी हिंसा का समर्थन करते हैं। और कहा –

कामकाराद् विहिंसन्ति बहिर्वेद्यां पशून् नराः॥

-- *(शांतिपर्व २६५.५)*

– मनुष्य अपनी आंतरिक कामनाओं के वशीभूत होकर बाहर यज्ञ की वेदी पर पशुओं का बलिदान करते हैं।

सुरां मत्स्यान् मधु मांसमासवं कृसरौदनम्।
धूर्तैः प्रवर्तितं ह्येतन्नैतद् वेदेषु कल्पितम्॥

-- *(शांतिपर्व २६५.९)*

– सुरा, आसव, मधु, मांस और मछली तथा तिल और चावल की खिचड़ी, इन सब वस्तुओं को धूर्तों ने ही यज्ञ में प्रचलित कर दिया है। वेदों में इनके उपयोग का विधान नहीं है।

उदाहरणार्थ **महर्षि अगस्त्य का यज्ञ –**

महर्षि अगस्त्य के यज्ञ की कथा में इसी व्यथा से व्यथित तपस्वी ऋषियों का यह वर्णन हमारे सामने है।

तदो दीनान् पशून् दृष्ट्वा ऋषयस्ते तपोधनाः।
ऊचुः शक्रं समागम्य नायं यज्ञविधिः शुभः॥

-- *(आश्वमेधिकपर्व ९१.१२)*

– उन पशुओं की दयनीय अवस्था देखकर वे तपोधन ऋषि इंद्र के पास जाकर बोले – "यह जो यज्ञ में पशुवध का विधान है, यह शुभकारक नहीं है"।

न हि यज्ञे पशुगणा विधिदृष्टाः पुरंदर॥

-- *(आश्वमेधिकपर्व ९१.१३)*

– हे पुरंदर! यज्ञ में पशुओं के वध का विधान शास्त्र में नहीं देखा जाता।

धर्मोपघातकस्त्वेष समारम्भस्तव प्रभो।
नायं धर्मकृतो यज्ञो न हिंसा धर्म उच्यते॥

-- *(आश्वमेधिकपर्व ९१.१४)*

– "प्रभो! आपने इस यज्ञ का जो समारंभ किया है, यह धर्म को हानि पहुँचाने वाला है। यह यज्ञ धर्म के अनुकूल नहीं है, क्योंकि हिंसा को कहीं भी धर्म नहीं कहा गया है।"

धर्मदृष्टैर्विधिद्वारैस्तपस्तप्स्यामहे वयम्।
भवतः सम्यगिष्टा तु बुद्धिर्हिंसाविवर्जिता।
एतामहिंसां यज्ञेषु ब्रूयास्त्वं सततं प्रभो॥

-- *(आश्वमेधिकपर्व ९२.३३-३४)*

– "धर्मशास्त्र में देखे गये विधिविधान से ही हम तपस्या करेंगे। आपको भी हिंसारहित बुद्धि ही अधिक प्रिय है। अतः प्रभो! आप यज्ञों में अहिंसा का ही सदा प्रतिपादन करें।"

स्पष्ट है कि धार्मिक तपस्वियों द्वारा हिंसक यज्ञों का विरोध प्राचीन काल से चला आ रहा था।

भीष्म पितामह ने एक पुरानी कथा का विवरण देते हुए उसके माध्यम से भी अपने शुभ विचार प्रकट किये। इस कथा में स्वयं धर्म एक याज्ञिक तपस्वी को समझाते हैं–

न त्वसौ यज्ञसंविधिः।

-- *(शांतिपर्व १२.१७)*

– (जो हिंसक हैं) वे यज्ञ संवैधानिक नहीं हैं।

तुम्हारे मन में स्वर्गप्राप्ति की कामनापूर्ति हेतु, यज्ञ में पशुहिंसा की भावना जागनेमात्र से ही

तपो महत्समुच्छिन्नं।

– तुम्हारा महान तप समुच्छिन्न हो गया।

– **तस्माद् हिंसा न यज्ञिया।**

-- *(शांतिपर्व १२.१८)*

– इसलिए स्पष्ट है कि हिंसा यज्ञेय नहीं है। यानी, यज्ञ के योग्य नहीं है।

अहिंसा सकलो धर्मो – अहिंसा सकल धर्म है, यानी, सर्वांगसंपूर्ण धर्म है।

हिंसा यज्ञे समाहिता – जब कि यज्ञ में हिंसा समाहित हो गयी है। (अतः यज्ञ ने अपनी परिपूर्णता खो दी है।)

सत्यं तेऽहं प्रवक्ष्यामि – मैं तुम्हारे लिए वही सत्य प्रकट करता हूं।

यो धर्मः सत्यवादिनाम्॥

-- *(शांतिपर्व १२.२०)*

– जो कि सत्यवादियों का धर्म है।

इसी परिप्रेक्ष्य में भीष्म पितामह ने इस सच्चाई को दोहराया, कि–

अहिंसा परमो धर्मः, स च सत्ये प्रतिष्ठितः।
सत्ये कृत्वा प्रतिष्ठां तु, प्रवर्तन्ते प्रवृत्तयः॥

-- *(आरण्यकपर्व १९८.६९)*

– अहिंसा परम धर्म है। यह सत्य में प्रतिष्ठित है। इसका प्रयोग सत्य में प्रतिष्ठित होकर ही किया जाता है।

भगवान बुद्ध सत्यवादी थे, सत्यनिष्ठ थे। सत्य में प्रतिष्ठित थे। इसीलिए सच्चनाम (सत्यनाम) कहलाते थे। सच्चसन्ध (सत्य से सर्वदा जुड़े हुए) कहलाते थे। यज्ञ में फैली हुई हिंसा के दूषण से धर्म की जो हानि और ग्लानि हो रही थी, उसे उन्होंने दूर कर सत्य धर्म, यानी, सद्धर्म, की पुनर्स्थापना का सफल प्रयत्न किया।

भगवान बुद्ध द्वारा हिंसक यज्ञों का निराकरण

भगवान बुद्ध के जीवन की एक घटना।

कूटदंत ब्राह्मण

एक समय भगवान बुद्ध मगध की चारिका करते हुए अंबलट्ठिक उद्यान में विहार कर रहे थे। वहां खाणुमत नामक ब्राह्मणग्राम था, जिसे मगधराज बिंबिसार ने कूटदंत ब्राह्मण को जीवन-यापन के लिए प्रदान कर दिया था। इस कारण कूटदंत महाधनसंपन्न था।

उन दिनों ब्राह्मण कूटदंत एक बहुत बड़े यज्ञ की तैयारी में जुटा था। यज्ञ में बलि चढ़ाने के लिए उसने सैकड़ों गायों, बैलों, बछड़ों, बछड़ियों और भेड़-बकरियों को बांध रखा था। अंबलट्ठिक में भगवान के आगमन की सूचना पाकर वह उनसे मिलने गया।

भगवान ने जब सम्यक संबोधि प्राप्त की थी, तब उन्हें अनेक अभिज्ञानों के साथ पूर्वजन्म स्मरण की विद्या प्राप्त हुई थी। इस विद्या के बल पर वे अपने अनगिनत पूर्वजन्मों की घटनाओं को चल-चित्र की भांति देख सकते थे। अपने यहां पूर्वकाल के त्यागी और तपस्वी ब्राह्मण कैसे हुआ करते थे? यह उन्होंने इसी विद्या के बल पर जाना था। पूर्वकाल के अहिंसामय पावन यज्ञ कैसे होते थे? यह भी इसी विद्या से जान कर समय-समय पर लोगों को बताते थे। इस कारण समाज में उनकी ऐसी प्रसिद्धि फैल गयी थी कि वे पूर्वकाल की परम पावन आदर्श यज्ञ-संपदा को जानते हैं और उसका वर्णन करते हैं। ब्राह्मण कूटदंत के घर महायज्ञ का आयोजन था, अतः उसने भगवान बुद्ध से पूछा कि पूर्वकाल की आदर्श यज्ञ-संपदा कैसी हुआ करती थी?

पुरातन काल के महाप्रतापी महाराज महाविजित तथा उसके पंडित ब्राह्मण पुरोहित का उदाहरण देकर अपने करुणासंपन्न चित्त से भगवान ने कूटदंत को प्राचीन भारत की आदर्श यज्ञ-संपदा विवरण सहित समझायी।

प्राचीन समय में जब कोई राजा बृहद् यज्ञ आयोजित किया चाहता और वह समय उपयुक्त नहीं होता तो राजपुरोहित उस पर रोक लगाता था। यदि राज्य में कहीं भी अराजकता होती, लूटपाट होती, बटमारी होती और लोग अपने आपको असुरक्षित महसूस करते, तो पुरोहित उसे यज्ञ के अनुकूल अवसर नहीं मानता। वह राजा को यज्ञ कराने की अनुमति नहीं देता था। जब देश में भुखमरी होगी तब वहां के भूखे लोग राजदंड की परवाह किये बिना लूटपाट करेंगे ही। एक ओर ऐसी गरीबी हो और दूसरी ओर राजा पुत्र-कलत्र या यश-कीर्ति प्राप्त करने के लिए या पड़ोसी का राज्य छीन कर अपना साम्राज्य बढ़ाने के लिए अथवा शत्रु का नाश करने के लिए महायज्ञ करवाये तब यह कैसे उचित माना जा सकता था?

धर्मस्थ ब्राह्मण पुरोहित ने राजा से कहा कि पहले यह लूटपाट बंद होनी चाहिए। राजा दस्युओं को वध, बंधन, देश-निष्कासन आदि दंडों द्वारा समाप्त करने लगा। तब पुरोहित ने फिर रोक लगायी। पुरोहित ने कहा – दंड द्वारा सही सुधार नहीं हो सकता। एक बार दब भले जाय, परंतु ऐसी अराजकता बारंबार सिर उठाती रहेगी। हो सकता है और भी जोरों से सिर उठाये। इसका संपूर्णतया उन्मूलन कर दिया जाना चाहिए। इसके लिए व्यावहारिक कदम उठाने होंगे। इस निमित्त पुरोहित ने मंत्रणा दी कि प्रजा में जो कृषि की रुचि रखते हैं उन्हें बोने के लिए बीज दें और जब तक फसल तैयार न हो तब तक उनके भोजन पानी का प्रबंध करें। जिनको वाणिज्य में रुचि है उन्हें वाणिज्य करने के लिए पर्याप्त मात्रा में पूंजी प्रदान करें। जो नौकरी करना चाहते हैं उन्हें राज्य की ओर से नौकरी देकर भत्ता, वेतन प्रदान करें। इस प्रकार लोग काम में लग जायेंगे, तो अन्य लोगों को उत्पीड़ित नहीं करेंगे। उनकी आय से राज्य की आय भी बढ़ेगी। देश पीड़ा-रहित, निष्कंटक और क्षेमपूर्ण होगा।

ऐसी अवस्था में,

मनुस्सा मुदा मोदमाना उरे पुत्ते नच्चेन्ता अपारुतघरा मञ्ञे विहरन्ति।

-- (दी०नि० १.३३८, कूटदन्तसुत्तं)

– लोग हर्षित, मुदित, अपने बच्चों को गोद में खेलाते, नचाते हुए, घर खुला छोड़ कर विहार करते हैं।

देश में सुरक्षा और निर्भयता फैलती है क्योंकि देश में बेरोजगारी और भुखमरी नहीं रहती और वही महायज्ञ आयोजित करने का अनुकूल समय होता है।

जब ऐसी सुखद सुरक्षा की अवस्था आयी तभी पुरोहित ने राजा को यज्ञ करने की अनुमति दी। परंतु यज्ञ के लिए अन्य आवश्यक अपेक्षाएं भी थीं। पुरोहित ने उनका भी स्पष्टीकरण किया।

ऐसे महायज्ञ करने के लिए – जनपदों और निगमों के क्षत्रिय परिषद, अमात्य परिषद, ब्राह्मण परिषद तथा अन्य गृहस्थ परिषदों का पूर्ण सहयोग हो जिससे कि यज्ञ एक व्यक्ति का न होकर, सार्वजनीन बने। इसके अतिरिक्त यज्ञ करने वाले राजा में राजधर्म के आवश्यक गुण हों। इसी प्रकार यज्ञ कराने वाला पुरोहित भी सच्चरित्र और सद्गुणी हो।

ऐसे यज्ञ में प्रजा की ओर से अनेक लोग सम्मिलित होते थे जिनमें से कुछ शील-सदाचार से परिपूर्ण और कुछ अपरिपूर्ण होते थे। राजा को समझाया गया कि वह इन शील-विहीन लोगों के प्रति मन में जरा भी द्वेष न उत्पन्न करे। जो सदाचारी हैं, उनके प्रति मन में मोद जगाये और जो सदाचारी नहीं हैं, उनके प्रति उपेक्षाभाव रखे। उन दिनों अपने यहां के ऐसे शुद्ध यज्ञों में गायें, भेड़-बकरियां, मुर्गे, सूअर आदि नहीं मारे जाते थे। घी, तेल, मक्खन, दही, मधु, खांड से ही यज्ञ की पूर्णाहुति होती थी। नौकर-चाकर, दास-दासियों से अश्रुमुख बेगार नहीं ली जाती थी। वे प्रसन्नचित्त से, स्वेच्छापूर्वक सेवा करें तो करें अथवा न करें तो न करें।

यज्ञ का एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य था कि किसी भी व्यक्ति के पास अत्यधिक संपदा संचित हुई हो तो उसका समाज में समविभाग हो। इस निमित्त जनपद निगमों से आयी हुई चारों परिषदें भी यज्ञभूमि के चारों

ओर, चारों दिशाओं में छोटी-बड़ी दानशालाएं स्थापित कर अपनी अपनी ओर से प्रभूत दान देकर इस महायज्ञ में भागीदार होती थीं।

यों हमारे यहां पुरातन काल में कल्याणकारी आदर्श यज्ञ होते थे, जो सर्वथा हिंसा-विहीन होते थे। इसे सुनकर वहां उपस्थित सभी ब्राह्मणों ने उल्लास प्रकट करते हुए कहा –

अहो यञ्ञो! अहो यञ्ञसम्पदा!

-- (दी०नि० १.३४८, कूटदन्तसुत्तं)

– धन्य है ऐसा यज्ञ! धन्य है ऐसी यज्ञ-संपदा!

इसे सुन कर कूटदंत विस्मय-विभोर हो गया। अवाक रह गया। उसे यों लगा कि भगवान किसी से सुनी-सुनायी बात नहीं बोल रहे बल्कि यों बोल रहे हैं जैसे उस समय स्वयं उपस्थित थे। इस पर भगवान ने कहा कि ये सारी घटनाएं उनके एक पूर्वजन्म में घटी थीं और उस समय ब्राह्मण राजपुरोहित वे स्वयं ही थे।

ब्राह्मण कूटदंत भगवान के इस वचन से अत्यंत प्रभावित हुआ और बोला कि मैं अपनी यज्ञशाला में वध के लिए बँधे हुए सभी पशुओं को –

मुञ्चामि – मुक्त करता हूं,

जीवितं देमि – जीवनदान देता हूं।

हरितानि चेव तिणानि खादन्तु – वे हरी-हरी घास चरें,

सीतानि च पानीयानि पिवन्तु – शीतल जल पिएं।

सीतो च नेसं वातो उपवायतूति – उनके लिए ठंडी हवाएं बहें।

-- (दी०नि० १.३५४, कूटदन्तसुत्तं)

इस प्रकार समझदार ब्राह्मण कूटदंत भगवान की आर्य धर्मदेशना के कारण अनार्य धर्म के दूषण से दूषित होते-होते बच गया। भगवान ने इसी प्रकार अत्यंत करुणचित्त और मैत्रीभाव से समाज को हिंसक यज्ञों के पापमय दुष्कर्मों से मुक्त करने का अनथक प्रयत्न किया।

उद्गतशरीर ब्राह्मण

उद्गतशरीर नामक धनवान ब्राह्मण के यहां महान यज्ञ का आयोजन था। उसने यज्ञ की पूरी तैयारी कर ली थी। सैकड़ों गाय, बैल, बछड़े, बछड़ियां, भेड़, बकरियां यज्ञशाला में यज्ञ-स्तंभ के समीप बांध दी गयी थीं। यज्ञ आरंभ करने के पूर्व वह भगवान से मिलने चला गया। वहां भगवान ने उसे समझाया कि इस प्रकार के हिंसक यज्ञ करने वाला व्यक्ति तीन प्रकार के दुष्कर्म करता है। पहला है मानसिक दुष्कर्म, जबकि वह इतने पशुओं की हत्या करने का मनःसंकल्प करता है। दूसरा है वाचिक दुष्कर्म, जबकि वह पशु-हत्यारों को निरीह पशुओं पर शस्त्र चलाने के लिए वाणी से आदेश देता है। तीसरा है शारीरिक दुष्कर्म, जब वह यज्ञ के लिए लाये गये प्रथम पशु की स्वयं हत्या करता है। इस प्रकार पुण्य कमाने के स्थान पर वह अपुण्य कमाता है। शुभ कर्म करने के स्थान पर अशुभ कर्म करता है। सुगति, स्वर्ग का मार्ग खोजने के स्थान पर दुर्गति, नरक के मार्ग पर आरूढ़ होता है। उद्गतशरीर भाग्यशाली था। इतना बड़ा दुष्कर्म करने के पूर्व वह भगवान से मिलने चला गया और उनकी करुणासिक्त वाणी से उसका हृदय-परिवर्तन हो गया। उसकी मान्यता तो यही थी कि इतना बड़ा यज्ञ करके वह महान पुण्य-कर्म संपादन करेगा, पर अब बात समझ में आयी कि यह तो वस्तुतः अपुण्य-कर्म है, पाप-कर्म है। उसने वध-शाला में बँधे सभी पशुओं को मुक्त कर दिया और भगवान के बताये मार्ग पर चल कर सही माने में पुण्यलाभी हुआ।

-- *(अ०नि० २.७.४७, दुतियअग्गिसुत्तं)*

महाराज प्रसेनजित

किसी दुःस्वप्न से भयभीत होकर अपने भविष्य की सुरक्षा से चिंतित हुए कोशलनरेश महाराज प्रसेनजित ने एक बृहद हिंसात्मक यज्ञ का आयोजन किया था। परंतु सौभाग्य से यज्ञ आरंभ करने से पूर्व वह भगवान से मिलने चला गया। उन दिनों लोगों के मन में यह भ्रांति गहराई से समा गयी थी कि इन हिंसक यज्ञों से अनिष्ट दूर होता है और इष्ट संपन्न होता

है। भगवान ने इस मिथ्या मान्यता से कोशलनरेश को उबारा, उसे स्वप्न का सही अर्थ बता कर पशुहत्या के दुष्फल से बचाया और हजारों निरपराध प्राणियों की हत्या रुकवायी।

भगवान करुणा-सागर थे। उनकी करुणा उन निरीह, निरपराध, मूक, असहाय पशुओं पर तो उमड़ी ही, साथ-साथ उन अज्ञानी लोगों पर भी उमड़ी, जो धर्म के नाम पर कितना अधर्म कर रहे थे। जो पुण्य के नाम पर कितना पाप कमा रहे थे। जो अर्थ के भ्रम में कितना अनर्थ संग्रह कर रहे थे। जो इन दुष्कर्मों के कारण कितना बड़ा दुष्फल भुगतने वाले थे। इसी करुणा-विगलित हृदय से उन्होंने सभी हिंसक यज्ञों का भरपूर विरोध किया। यद्यपि वे सभी यज्ञों के विरोधी नहीं थे, न वे सभी यज्ञों के प्रशंसक थे।

सभी यज्ञ प्रशंसनीय नहीं हैं

उज्जय नामक ब्राह्मण ने जब यह सुना कि भगवान यज्ञों की प्रशंसा भी करते हैं तब वह भगवान के पास आया और उसने उनसे यह प्रश्न पूछा –

भवम्पि नो गोतमो यञ्ञं वण्णेतीति?

– क्या आप गोतम भी यज्ञों की प्रशंसा करते हैं?

भगवान ने कहा – मैं न सभी यज्ञों की प्रशंसा करता हूं और न सभी की निंदा। जिन अश्वमेध, नरमेध, गोमेध, सम्मापास, वाजपेय तथा निरर्गल जैसे यज्ञों में अश्वों की, मनुष्यों की, गौओं की, भेड़-बकरियों की, मुर्गी-सूअरों की तथा अन्य प्राणियों की हत्या होती है, मैं उनकी प्रशंसा नहीं करता। ऐसे यज्ञों में –

न उपसङ्कमन्ति अरहन्तो वा अरहत्तमग्गं वा समापन्ना।

– न अरहंत जाते हैं और न अरहंत मार्ग पर आरूढ़ आर्यजन।

जिस यज्ञ में प्राणियों की हत्या नहीं होती और जिसमें नित्य दान का कार्यक्रम होता है, वैसे अहिंसक यज्ञ ही अनुकूल यज्ञ हैं। मैं उनकी प्रशंसा करता हूं। ऐसे यज्ञों में अरहंत या अरहंत मार्गारूढ़ आर्यजन सम्मिलित होते

हैं। दक्षिणा देने योग्य पुण्यक्षेत्र-सदृश संतों को दान देकर प्रसन्न-चित्त से जो यज्ञ किया जाता है वह –

यञ्ञो च विपुलो होति, पसीदन्ति च देवता।

-- (अ०नि० १.४.३९, उज्जयसुत्तं)

– वह यज्ञ महान होता है और उससे देवता प्रसन्न होते हैं।

अतः दान देने के लिए किये गये होम यज्ञ के यजन का भगवान द्वारा समर्थन स्वाभाविक था बशर्ते कि वह हिंसक न होकर अहिंसक हो।

इस सच्चाई को देखते हुए महाकारुणिक तथागत को वेदनिंदक नास्तिक कहने में कितनी नासमझी थी! कितना अज्ञान था! अधार्मिक यज्ञों के साथ-साथ उन दिनों अधोगति को प्राप्त हुए शुद्ध धर्म के पुनरुत्थान का एक और महत्त्वपूर्ण कार्य भगवान बुद्ध को करना था जो कि कुछ एक स्वार्थांध लोगों को बहुत अप्रिय लगा। इसके कारण भी विरोधियों द्वारा उन पर मिथ्या लांछनभरी दुर्भावना की वर्षा की गयी।

वेदों में जो पशु-बलि का समावेश हुआ उसे भगवान बुद्ध ने धर्मविरुद्ध बताया। इसे लेकर उन्हें "वेदनिंदक नास्तिक" कह कर लांछित किया गया। हमने देखा कि नास्तिक शब्द अपने मूल अर्थ में कर्मसिद्धांत को अस्वीकार करने वालों के लिए प्रयुक्त होता था। परंतु उस अर्थ के आधार पर भगवान बुद्ध को नास्तिक कहा नहीं जा सकता था, क्योंकि वे कर्मसिद्धांत के अद्वितीय उद्‌घाटक थे। परंतु उन्हें किसी भी बहाने नास्तिक तो घोषित करना ही था, क्योंकि सभी भारतीय परंपराओं में 'नास्तिक' नितांत घृणावाचक शब्द रहा है, तिरस्कार और गाली का अत्यंत निंदनीय शब्द रहा है। कुछ विरोधियों द्वारा उन्हें इस 'वेदनिन्दकः' के दुर्वचन से कुख्यात किया जाना ही अभीष्ट था। इस उद्देश्य में वे सदियों तक बहुत कुछ सफल भी हुए। इसी कारण हम देखते हैं कि सदियों बाद कृष्ण-भक्त जयदेव ने अपने गीत-गोविंद में इसका उल्लेख करते हुए कहा –

निन्दसि यज्ञविधेरहह श्रुतिजातम्।

सदयहृदय दर्शितपशुघातम्।

केशव धृतबुद्धशरीर,

जय जगदीश हरे॥

-- *(गीत० १.९)*

– वेदों की यज्ञ-विधि में पशुहत्या का विधान देख कर केशव ने सदय-हृदय बुद्ध का रूप धारण कर वेद-समूह की निंदा की।

अर्थात, सदियों से प्रचलित की गयी दो बातें दोहरायी गयीं। एक तो यह कि बुद्ध ईश्वर के नौवें अवतार थे और दूसरी यह कि वे वेदनिंदक थे, अतः नास्तिक थे। ये दोनों बातें पहले से लोकमानस में गहराई तक स्थापित कर दी गयी थीं। यद्यपि जयदेव ने उन्हें स्पष्टतया वेदनिंदक नहीं कहा और न ही नास्तिक कहा। बल्कि वेदों के हिंसक यज्ञों का निंदक कहा। परंतु लोगों के मस्तिष्क में सदियों से बुद्ध के लिए **'नास्तिको वेदनिन्दकः'** का अनादरभाव इस कदर कूट-कूटकर भर दिया गया था कि बुद्ध के बारे में जब कभी वेद और निंदा के शब्द साथ-साथ सुने जाते तब भले वे वेद के यज्ञों की निंदा से ही संबंधित हों, फिर भी उनमें "नास्तिको वेदनिन्दकः" की ही गूंज सुनाई देती थी। यही कारण है कि जयदेव का यज्ञनिंदक शब्द सुनते ही लोगों के मन में वेदनिंदक का भाव जाग उठता था। इसीलिए हम देखते हैं कि डेढ़ सौ वर्ष पूर्व हमारी आज की हिंदी के प्रारंभिक प्रतिष्ठापक 'भारतेंदु हरिश्चंद्रजी' जैसे परम मेधावी व्यक्ति ने भी अपने दशावतारस्तवन में इसे ही दोहराते हुए कहा –

बुद्ध को रूप धर वेद निंदा करन। रूप धर कलकी कलयुग संहारी।

इसी कारण आज भी देश में कुछ ऐसे भ्रमित लोग हैं जो बुद्ध को वेदनिंदक नास्तिक मानते हैं। नास्तिक का अर्थ किया जाता है –नितांत धर्म-विरोधी व्यक्ति। परंतु ऐतिहासिक सच्चाई यह है कि हिंसक यज्ञ बुद्ध के बहुत पहले से प्रचलित हो गये थे और समझदार लोग तभी से इसकी निंदा करने लगे थे, न कि वेद की।

किसी एक प्रसंग में भगवान बुद्ध ने कहा –

एवमेसो अणुधम्मो, पोराणो विञ्ञुगरहितो।
यत्थ एदिसकं पस्सति, याजकं गरहती जनो॥

-- *(सु०नि० ३१५, ब्राह्मणधम्मिकसुत्तं)*

– यह हीन धर्म पुराना है और समझदार लोगों द्वारा निंदित है। लोग जहां भी ऐसे पुरोहित को देखते हैं, उसकी निंदा ही करते हैं।

इन पूर्वकालीन हिंसक-यज्ञ निंदकों को न उस समय और न आज तक किसी ने वेदनिंदक कहा। परंतु चंद लोगों के भ्रांतिजन्य प्रचार के कारण बुद्ध के लिए यज्ञनिंदक शब्द को वेदनिंदक के अर्थ में लिया जाता रहा है जब कि रक्तरंजित वैदिक यज्ञों की निंदा अनेकों ने की है।

वैदिक परंपरा में हिंसक यज्ञ की निंदा

हम देखते हैं वैदिक परंपरा के ही अनेक परवर्ती ग्रंथों में भी वेदों के हिंसकयज्ञ की भरपूर निंदा की गयी है और वह भी अत्यंत कटु शब्दों में।

महाभारत में हिंसक यज्ञ की प्रभूत निंदा है। गोमेध के बारे में तो और अधिक है। इस संबंध में महाभारत में उल्लेख है –

अघ्न्या इति गवां नाम क एता हन्तुमर्हति।
महच्चकाराकुशलं वृषं गां वाऽऽलभेत् तु यः॥

-- *(महा०, शांतिपर्व, २६२.४७)*

– गौवें अघ्न्या हैं, यानी, वध करने योग्य नहीं हैं। इनकी कोई हत्या नहीं कर सकता। जो बैल या गौ की हत्या करता है, वह महापापी है।

हिंसक यज्ञों का प्रचलन करने वाले पुरोहितों की भी महाभारत में घोर निंदा की गयी है –

अव्यस्थितमर्यादैर्विमूढैर्नास्तिकैर्नरैः।
संशयात्मभिरव्यक्तैर्हिंसा समनुवर्णिता॥

-- *(महा०, शांतिपर्व, २६५.४)*

– जिनकी कोई मर्यादा नहीं, जो स्वयं मूढ़ हैं, नास्तिक हैं, संशयात्मा हैं, उन्होंने ही यज्ञ में हिंसा का वर्णन किया है।

यह भी कि–

> **लुब्धैर्वित्तपरैर्ब्रह्मन्नास्तिकैः सम्प्रवर्तितम्।**
> **वेदवादानविज्ञाय सत्याभासमिवानृतम्॥**
>
> **सतां वर्त्मानुवर्तन्ते यजन्ते चाविहिंसया।**
> **वनस्पतीनोषधीश्च फलं मूलं च ते विदुः॥**

-- *(महा०, शांतिपर्व, २६३.६, २६३.२६)*

– लोभी, लालची और नास्तिक ब्राह्मणों ने, जो कि वेदों के सही अभिप्रायों को नहीं जानते थे, उन्होंने झूठ को सत्य रूप में वर्णित किया है। परंतु जो सत्पुरुषों के मार्ग के अनुगामी हैं, वे तो बिना हिंसा के ही यज्ञ करते हैं। वे वनस्पतियों, ओषधियों, फलों तथा मूलों से यज्ञ करते हैं।

और यह भी कि–

> **ध्रुवं प्राणिवधो यज्ञे नास्ति यज्ञस्त्वहिंसकः।**
> **ततो हिंसात्मकः कार्यं सदा यज्ञो युधिष्ठिर॥**
>
> **यूपं छित्वा पशून् हत्वा कृत्वा रुधिरकर्दमम्।**
> **यद्येवं गम्यते स्वर्गं नरकं केन गम्यते॥**

-- *(महा०, शांतिपर्व, २३३)*

– यह ध्रुव सत्य है कि यज्ञ में प्राणीवध की विधि नहीं है। यज्ञ तो अहिंसक है। इसलिए हे युधिष्ठिर! सर्वदा हिंसारहित यज्ञ ही करना चाहिए। यूप को काटकर, पशुओं को मारकर तथा वेदी को उनके लहू से लथपथ करके यदि मनुष्य स्वर्ग जा सकता है, तो बताओ फिर और ऐसे कौन-से दुष्कर्म हैं जिन्हें करके उसे नरक प्राप्त होगा?

पशुयज्ञ की निंदा अपने यहां पुराणों ने भी की है।

श्रीमद्भागवत पुराण पशुयज्ञ के दूषण का उद्घोष करता हुआ हिंसावादी पुरोहितों की भरपूर निंदा करता है।

> **हिंसाविहारा ह्यालब्धैः, पशुभिः स्वसुखेच्छया।**
> **यजन्ते देवता यज्ञैः, पितृभूतपतीन् खलाः॥**

-- *(भागवत०, स्कंध ११, अध्याय २१)*

– हिंसारत मनुष्य ही अपने सुख की इच्छा से पशुवध द्वारा श्राद्ध और यज्ञ करते हैं। वे वास्तव में मांस के लोभी हैं और निश्चय ही छली हैं, कपटी हैं।

पद्मपुराण भी इसी स्वर में अपना सुर मिलाता हुआ कहता है –

जानाति को वेदपुराणतत्वं ये कर्मठाः पडितं युक्ताः।
लोकाधमास्ते नरकं पतन्ति कुर्वन्ति मूर्खाः पशुघातनं चेत्॥

-- (पद्म०, उत्तरखण्ड, अध्याय १०५)

– वास्तव में जो अभिमानी हैं, कर्मकांडी हैं, वेद और पुराण के तत्त्वों को नहीं जानते हैं, पशुवध करने वाले ऐसे लोग अधम हैं और मूर्ख हैं। वे अवश्य नरक में गिरते हैं।

उपरोक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि हमारे यहां के जो भी यज्ञनिंदक ग्रंथ हैं, उन्हें वेदनिंदक अथवा नास्तिक ग्रंथ नहीं कहा गया। बल्कि, यह एक तथ्य प्रमुख रूप से हमारे सामने आता है कि जिन लोभी पुरोहितों ने यज्ञ में पशु-बलि और उससे भी बुरी गौ-बलि की परंपरा चलायी उन्हें केवल धर्मविरोधी ही नहीं प्रत्युत नास्तिक भी कहा गया है। हमने देखा कि बुद्ध के जीवनकाल में नास्तिक उन्हें ही कहा जाता था जो ऋत के नियमों को नकारते थे। यानी, जो दुष्कर्म का फल दुष्फल ही होगा, इस सच्चाई को नहीं स्वीकारते थे। यहां इसी भाव में नास्तिक शब्द का प्रयोग हुआ है। क्योंकि ये लोभी पुरोहित यही मानते-मनवाते रहे हैं कि किसी मूक निरपराध प्राणी की हत्या करने से उसका दुष्फल नहीं मिलेगा, बल्कि सत्फल मिलेगा, स्वर्ग प्राप्त होगा। यह मान्यता ऋत के नियमों के सर्वथा विरुद्ध थी।

इसीलिए उन ऋत-विरोधी पुरोहितों को नास्तिक कहा गया।

इसके विपरीत भगवान बुद्ध ऋत पर आधारित कर्मसिद्धांत के प्रबल समर्थक और शिक्षक थे। उन्हें नास्तिक कहना कितना बेमाने था!

वैदिक परंपरा के अन्य ग्रंथों में वेदों की भी निंदा

निंदा हिंसक यज्ञों तक ही सीमित नहीं रही, बल्कि वैदिक परंपरा के अनेक मान्य धर्मग्रंथों में वेदों तक की बेहद निंदा की गयी है। जैसे, गीता में कहा गया –

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन॥

-- *(गीता २.४५)*

– हे अर्जुन! वेदों का विषय तो सत्त्व, रज, तम इन तीन गुणों तक ही सीमित है। (यानी, वेद त्रिगुणमय लौकिक भव-चक्र में ही उलझाये रखने वाले हैं।) इसलिए तू इन तीनों की सीमा को लांघ कर त्रिगुणातीत हो जा। (जिससे कि तू लोकों के परे भव-मुक्ति पा सके।)

और यह भी कि–

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥

-- *(गीता २.४६)*

– ज्ञानी ब्राह्मण के लिए वेदों का उतना ही मूल्य है जितना चारों ओर विपुल मात्रा में पानी ही पानी भरा होने पर किसी छोटे तालाब का मूल्य होता है। ज्ञान के विस्तृत जलाशय की तुलना में क्षुद्र तालाब सदृश वेदों का क्या मूल्य है!

कहीं-कहीं अपने यहां उपनिषदों में भी वेदों और वैदिक कर्मकांडों को हीन और तुच्छ बताया गया है।

तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते॥

-- *(मुण्डक० १.५)*

– ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद और शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छंद, ज्योतिष ये सब अपरा (यानी, जो पार न लगा सके ऐसी) विद्याएं हैं। परंतु जिसके द्वारा अनित्य लोकों के परे अविनाशी (अवस्था)

तक जाना संभव है, वह परा विद्या है। (भवसागर के पार जाने की विद्या है।)

स्पष्ट है कि उपनिषदों में उसी को श्रेष्ठ माना गया है, अपरा विद्या को नहीं।

यह भी कहा गया है –

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापियन्ति॥

-- *(मुण्डक० २.७)*

– भवसागर को पार करने के लिए यह यज्ञ-रूपी प्लव (छोटी नौका) अदृढ़ है, बिल्कुल कमजोर है। इसमें जो १८ प्रकार के कर्म कहे गये हैं, ये सब-के-सब अवर हैं यानी, हीन हैं, श्रेष्ठ नहीं हैं। जो मूढ़ इन यज्ञीय-कर्मकांडों को श्रेय मानकर आनंद मनाते फिरते हैं, वे बार-बार जरा तथा मृत्यु के भवबंधन में फँसते रहते हैं।

और यहां तक कह दिया –

इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वा इमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति॥

(मुण्डक० २.१०)

– मूढ़-लोग इष्टपूर्ति के लिए, यज्ञ-याग आदि कर्मकांडों को सब-कुछ मान बैठते हैं, वे इनसे अन्य कुछ श्रेय जानते ही नहीं। सुकृत से जो सुख प्राप्त होता है, उसकी तो मानो वे पीठ को ही छू पाते हैं, और फिर इस हीनतर लोक में जा पहुँचते हैं, क्योंकि यज्ञ-याग आदि वास्तविक सुकृत नहीं हैं।

अपने यहां भारत की वैदिक परंपरा के इन प्रत्यक्ष वेद-निंदक ग्रंथों को भी कभी नास्तिक ग्रंथ नहीं कहा गया। अतः वेदों के हिंसक यज्ञों को अधर्ममय बतानेवाले अपने भगवान बुद्ध को नास्तिक कहा जाना समझदारों के लिए युक्तिसंगत साबित नहीं हो सका। जब कि सत्य यह भी है कि भगवान बुद्ध ने दानपरक अहिंसक यज्ञों की प्रशंसा की थी, उनमें सम्मिलित

होने का समर्थन किया था। दान पक्ष के कारण उनसे प्राप्त स्वर्गलाभ को भी स्वीकारा था।

इसीलिए लगभग १,२०० वर्ष पहले बुद्ध और उनकी शिक्षा के विरुद्ध जो तूफान उठा, उसमें बुद्ध के नास्तिक होने का यह एक और लांछन प्रसारित किया गया।

वेद प्रमाण न स्वीकारने के कारण नास्तिक

वेदप्रमाणकानामर्थानां मिथ्यात्वाध्यवसाये नास्तिक्यम्।

-- *(मेधातिथिभाष्यसमलंकृता, ३५४)*

– यानी, जो वेद को प्रमाण नहीं स्वीकारें वे नास्तिक हैं।

बुद्ध पर लगाये गये इस लांछन का लोगों पर कुछ तो असर हुआ लेकिन वह बहुत गहरा नहीं हुआ क्योंकि भगवान बुद्ध वेद ही नहीं बल्कि किसी भी शास्त्र को प्रमाण न मानने की शिक्षा देते थे, यहां तक कि स्वयं अपने उपदेशों को भी नहीं। उनका बार-बार यही कहना था कि किसी भी शिक्षा को अंधविश्वास के आधार पर मत मान लेना। उसे अनुभव पर उतार कर देखना कि क्या वह सचमुच कल्याणकारिणी है, अपने लिए भी तथा औरों के लिए भी। यदि हो, तभी उसे स्वीकार करना। और तब केवल स्वीकार करके ही न रह जाना, बल्कि उसे जीवन में उतारना जिससे कि अपना कल्याण सधे तथा औरों का भी।

इसके अतिरिक्त लोगों ने यह भी देखा कि वेदों में अनेक बार परस्पर-विरोधी बातें कही गयी हैं। स्पष्ट रूप से अनेक क्षेपक विद्यमान हैं जिनमें से कुछ क्षेपक मानने योग्य हैं और कितने ही स्पष्ट रूप से अमान्य हैं। तब किसे प्रमाण मानें? अतः भगवान बुद्ध पर लगाया गया यह लांछन भी मुट्ठीभर कट्टरपंथियों को छोड़कर अपने यहां के अन्य बहुसंख्यक लोगों के लिए बहुत प्रभावशाली साबित नहीं हुआ।

आत्मा और परमात्मा को नकारने के कारण नास्तिक

तब एक और नया लांछन बुलंद किया गया कि जो आत्मा और परमात्मा के अस्तित्व को न स्वीकारे वह नास्तिक है। निकट भूतकाल में लगाया गया यह लांछन अत्यंत प्रभावशाली साबित हुआ क्योंकि भगवान बुद्ध न आत्मा के और न परमात्मा के अस्तित्व को स्वीकारते थे। अतः पिछली कुछ सदियों से भगवान बुद्ध पर लगे इस सर्वथा नये लांछन का सफलतापूर्वक प्रबल प्रचार किया गया। यह तर्क प्रस्तुत किया गया कि भगवान बुद्ध की शिक्षा कितनी ही अच्छी क्यों न हो पर नास्तिकतापूर्ण होने के कारण कुत्ते के चमड़े की खोल में दूध भरकर पिलाने जैसी है। अतः अशुद्ध है, अपवित्र है, अग्राह्य है।

साथ-साथ अपने यहां एक और मिथ्या प्रचार यह भी किया गया कि भगवान बुद्ध भगवान विष्णु के नवें अवतार थे और उन्होंने अवतार इसीलिए लिया था कि विरोधी तत्त्वों को ऐसी शिक्षा दें जो सुनने में अत्यंत तर्कसम्मत लगे परंतु जो उन्हें नास्तिक बना दे और उनके लिए स्वर्ग का दरवाजा हमेशा के लिए बंद कर दे, केवल नरक का दरवाजा ही खुला रखे।

पिछली कई सदियों तक इस मिथ्या प्रचार का इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि भारत में अनेक लोग बुद्ध की शिक्षा को निर्दोष मानते हुए भी उसे इसलिए ग्रहण करने से घबराते रहे कि यह नास्तिकों की शिक्षा है, नरकगामिनी शिक्षा है। मैं भी अपने जीवन के इकत्तीस वर्षों तक इस मिथ्या प्रचार का शिकार रहा। मैं ही नहीं मेरे परिवार के अन्य सदस्य और अधिकांश बर्मा-निवासी भारतीयों की यही मिथ्या मान्यता थी। भारत आकर देखा कि यहां भी अनेक लोगों के मन में अब तक यही मिथ्या भावना कूट-कूटकर समायी हुई है। भगवान बुद्ध और उनकी शिक्षा पर भिन्न-भिन्न लांछन लगाये जाने का मूल कारण यही रहा कि पिछले लगभग २,००० वर्षों से भगवान की मूल वाणी और उनकी प्रयोगात्मक सक्रिय विपश्यना साधना भारत में अनजानी रही क्योंकि सर्वथा विलुप्त रही। वाणी कायम रहती तो भी विपश्यना बिना उसका सारतत्त्व अनसमझा ही रह जाता।

मेरा सौभाग्य हुआ कि इकत्तीस वर्ष की उम्र में बरमा में रहते हुए किन्हीं कारणों से भगवान बुद्ध की विपश्यना विद्या सीखने के लिए दस दिन का समय निकाल पाया। तब यह बात स्पष्ट समझ में आयी कि भगवान बुद्ध की शिक्षा में शुद्ध धर्म समाया हुआ है। व्यक्ति को स्वयं परिश्रम करके मुक्ति के मार्ग पर आगे बढ़ना सिखाया जाता है। शनैः शनैः विकारों से छुटकारा पाना सिखाया जाता है। सारी शिक्षा वैज्ञानिक है, अंधमान्यताओं से सर्वथा मुक्त है, आशुफलदायिनी है। सदाचार में पुष्ट होना, चित्त को संयत करना और विकारों से मुक्त करके निर्मल करना, यानी, शील, समाधि, प्रज्ञा – यही उनकी शिक्षा है; जिसमें किसी काल्पनिक मान्यता के लिए कोई स्थान नहीं है। न आत्मा के अस्तित्व को मानने की आवश्यकता है, न परमात्मा के। इस विद्या के लिए दोनों अप्रासंगिक हैं। बल्कि, प्रज्ञा में स्थित होने में बाधक हैं। शिक्षा के इस व्यावहारिक पक्ष में से गुजरने पर ही यह समझ में आया कि सही शिक्षा से अनभिज्ञ रह जाने के कारण ही भगवान बुद्ध पर भिन्न-भिन्न समय पर भिन्न-भिन्न प्रकार से भिन्न-भिन्न निराधार लांछन लगाये और प्रचलित किये गये। आत्मा-परमात्मा को लेकर नास्तिकता के लांछन का विशेष रूप से दुष्प्रचार किया गया और परिणामतः दुखियारे लोगों को धर्म के सही लाभ से वंचित रखा गया।

अब पिछले कुछ दशकों से यह विद्या भारत आयी है। भारत में और विश्व में भी लाखों की संख्या में लोगों ने इसे अपनाया है। सब ने यही देखा है कि यह नितांत सार्वजनीन है, सांप्रदायिकता-विहीन है, साधक को किसी सांप्रदायिक बाड़े में नहीं बांधती, सभी अंधविश्वासों से मुक्त है, क्षण प्रतिक्षण प्रत्यक्षानुभूति पर उतरते हुए यथार्थ सत्यों के सहारे साधक को स्वयं पग-पग आगे बढ़ने का पथ-प्रदर्शन करती है और आशुफलदायिनी है। यहीं इसी जीवन में अपने श्रम का तात्कालिक फल उपलब्ध कराती है और भविष्य के लिए यथेष्ट आशान्वित बनाती है। अतः भगवान बुद्ध पर लगा हुआ अधर्ममयी नास्तिकता का यह अंतिम लांछन भी अपने आप दूर हो रहा है। प्रत्यक्ष कल्याणकारी परिणाम के प्रभाव के कारण दूर हो रहा है। वैसे ही जैसे सूरज के उगने पर अंधकार अपने आप दूर होता है। उसे दूर करने के लिए कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता।

चातुर्वर्णी व्यवस्था

भगवान बुद्ध और उनकी धर्ममयी शिक्षा से कुछ लोगों के अत्यंत अप्रसन्न होने का एक मुद्दा यह भी रहा कि बिगड़ी हुई चातुर्वर्णी व्यवस्था को सुधारने के लिए भगवान ने करुणापूर्वक भरपूर प्रयास किया। वैदिक युग के प्रारंभिक काल में यह बुराई नहीं देखी जाती जो कि आगे चलकर इतनी विकृत रूप में वैसे ही समाहित हो गयी जैसे कि प्रारंभिक काल के पावन अहिंसक यज्ञों में हिंसा का दूषण समा गया।

वेदों में अनेक ऐसी ऋचाओं के दर्शन होते हैं जो अत्यंत पावन हैं, मनभावन हैं। जो किसी भी धर्मप्रेमी व्यक्ति को पुलक-रोमांच से भर देती हैं।

वैदिक ऋषि यह धर्मकामना करता है–

यांश्च पश्यामि यांश्च न। तेषु मा सुमतिं कृधि॥

-- *(अथर्व० १७.१.७)*

– मैं जिन प्राणियों को देखता हूं और जिन प्राणियों को नहीं देखता – अर्थात दृश्य और अदृश्य सभी प्राणियों के प्रति मेरे मन में प्रेम और सद्भावना रहे।

मैत्री और सद्भावना तब जगती है जब कि द्वेष और दुर्भावना से छुटकारा हो। धर्म के इस स्वभाव को भलीभांति समझते हुए वैदिक ऋषि यह मनोभावना व्यक्त करते हैं–

विश्वा उत त्वया वयं धारा उदन्या इव।

अति गाहेमहि द्विषः॥

-- *(ऋ० २.७.३)*

– जल की धारा जैसे एक स्थान छोड़कर अन्यत्र चली जाती है, वैसे ही हम द्वेषभाव छोड़कर मैत्रीभाव को प्राप्त हों।

द्वेषभाव छूटे तो ही मैत्रीभाव जागे।

द्वेष से मुक्त होने के लिए ऋषि प्रार्थना करता है।

युयोध्यस्मद् द्वेषांसि।

-- *(ऋ० २.६.४)*

– हे प्रभु, तू हमें द्वेषपूर्ण कार्यों से मुक्त रख।

राजमाता अदिति से विनती करता है।–

पिपर्तु नो अदिती राजपुत्राऽति द्वेषांसि।

-- *(ऋ० २.२७.७)*

– राजमाता अदिति हमें द्वेषों से परे ले जाय।

स नः पर्षदति द्विषः।

-- *(ऋ० १०.१८७.१, अथर्व० ६.३४.१)*

– वह (अग्नि) हमें द्वेषों से पार लगायेगा।

इन्द्रो अस्मे आराच्चिद् द्वेषः सनुतर्युयोतु।

-- *(ऋ० ६.४७.१३, १०.१३१.७, यजु० २०.५२)*

– वह इंद्र हमारे द्वेष को दूर ही रखे।

वैदिक युग का ऋषि द्वेष के दुर्गुण से छुटकारा पाने के लिए किस कदर आतुर है! इस निमित्त बार-बार अनेकों से यही प्रार्थना करता है। वह चाहता है कि सभी प्राणियों के प्रति उसका मैत्रीभाव पुष्ट हो।

मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे॥

-- *(यजु० ३६.१८)*

– सब प्राणी मुझे मित्र की दृष्टि से देखें। मैं भी सब प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखूं। यों हम सभी परस्पर मित्रदृष्टि से देखें।

वह चाहता है कि कोई उसका शत्रु न हो और न वह किसी का शत्रु हो।

असपत्नाः प्रदिशो मे भवन्तु, न वै त्वा द्विष्मो अभयं नो अस्तु।

-- *(अथर्व० १९.१४.१)*

– सभी दिशाएं मेरे लिए शत्रुरहित हो जाएं। यह सब जानते हैं कि हम आपसे द्वेष नहीं करते। हमारे लिए सर्वत्र अभय-ही-अभय हो जाये।

मित्रता को पुष्ट करने के लिए और शत्रुता को दूर करने के लिए उसे अपना चिंतन-मनन, अपने संकल्प-विकल्प सदा शिवमय, यानी मंगलमय, बनाये रखना आवश्यक है। तभी वह कामना करता है कि –

तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु।

-- *(यजु० ३४.१)*

– मेरा मन शिवसंकल्प, यानी सदा शुभ संकल्प करने वाला, हो जाय।

इस निमित्त विनती करता है –

अन्यत्र पापीरप वेशया धियः।

-- *(अथर्व० ९.२.२५)*

– जो पापमयी बुद्धि और संकल्प हैं, उनको हम से दूर कर दे।

वैदिक ऋषि यह भी खूब समझता है कि कड़वे बोल से द्वेष और दुर्भावना जागती है, मैत्री और प्यार नहीं।

इसीलिए कहता है –

उग्रं वचो अपावधीत्।

-- *(यजु० ५.८)*

– कड़वी बात मुँह से मत निकालो।

वह धरती माता से प्रार्थना करता है –

ता नः प्रजाः सं दुह्रतां समग्रा वाचो मधु पृथिवि धेहि मह्यम्।

-- *(अथर्व० १२.१.१६)*

– हे पृथ्वीमाता, तुझ पर रहने वाले सभी प्राणी मुझसे प्रेम करें। तू मेरी वाणी में मधु घोल दे।

जिह्वाया अग्रे मधु मे जिह्वामूले मधूलकम्।
ममेदह क्रतावसो मम चित्तमुपायसि॥

-- *(अथर्व० १.३४.२)*

– मेरी जिह्वा के अग्रभाग में मिठास होवे और जिह्वा के मूल में और भी अधिक मिठास, मिठास का झरना होवे। हे मधु! तू अवश्य ही मेरे प्रत्येक कर्म में, बुद्धि में विद्यमान रह और तू मेरे चित्त प्रदेश तक पहुँच जा, व्याप्त हो जा।

जब अपनी वाणी मधुमय होगी, मीठी होगी तब सभी हमसे प्रेम करेंगे। उस युग का ऋषि यह खूब समझता है कि वाणी की कड़ुवाहट दूर करने के लिए, वाणी को मीठी करने के लिए मन को द्वेषमुक्त और मैत्रीयुक्त करना होगा और इसके लिए ऋत के पथ पर चलना होगा। इसलिए सभी साथियों को आह्वान करता हुआ कहता है –

ऋतस्य पथा प्रेत।

– **ऋत** के पथ पर चलें।

-- *(यजु० ७.४५)*

ऋत की एषणा, गवेषणा, पर्यवेषणा करने वाला ऋषि जानता है कि ऋत क्या है और ऋत के पथ पर कैसे चलना होता है।

ऋत कहते हैं नैसर्गिक धर्मनियामता को, निसर्ग के नियमों की सच्चाई को। निसर्ग का अटूट नियम है -- जैसा बीज वैसा फल। जैसा कर्मबीज वैसा कर्मफल। जैसा कारण वैसा परिणाम। ऋत के, यानी धर्म के, ये नियम सार्वजनीन हैं, सार्वदेशिक हैं, सार्वकालिक हैं यानी सनातन हैं। ये नियम सब पर, सब जगह, सब समय लागू होते हैं। किसी का पक्षपात नहीं करते।

अपने मानस में जब हम द्वेष-दुर्भाव का कर्मबीज बोते हैं तब उस बीज के स्वभावस्वरूप तत्काल स्वयं दुःख का अनुभव करते हैं। वही कर्मबीज आगे जा कर बृहद रूपसे दुःख का ही फल देता है। जब हम मानस में मैत्री और सद्भाव का कर्मबीज बोते हैं तब उस बीज के स्वभावस्वरूप तत्क्षण स्वयं सुख का अनुभव करते हैं। वही कर्मबीज आगे जाकर बृहद रूप में सुख का ही फल देता है। द्वेष और दुर्भाव जगा कर हम अपने आप को भी

दु:खी बनाते हैं, साथ-साथ औरों को भी। मैत्री और सद्भाव जगा कर हम अपने आप को भी सुखी बनाते हैं, साथ-साथ औरों को भी।

ऋत के इस नियम को जान जायँ और ऋत के पथ पर चलने लगें तो न अपने को दुःखी बनाएं न औरों को, बल्कि अपने को भी सुखी बनाएं तथा औरों को भी। ऋत के पथ पर चलें तो बुराई कर ही न सकें। इसे समझते हुए ही ऋग्वेद का ऋषि प्रार्थना करता है –

वयमिन्द्र त्वायवः सखित्वमा रभामहे। ऋतस्य नः पथा नयाऽति विश्वानि दुरिता नभन्तामन्यकेषां ज्याका अधि धन्वसु।

-- (ऋ० १०.१३३.६)

– हे इंद्र! तू हमें ऋत के मार्ग का ही निर्देशन कर जो सब बुराइयों से शून्य, सच्चा मार्ग है।

ऋत के मार्ग पर चलने के लिए विपश्यना करनी होती है जिससे द्वेष दूर होता है और प्यार जागता है। तभी कहा गया –

यो विश्वाभि विपश्यति भुवना, सं च पश्यति। स न पर्षदति द्विषः॥

-- (ऋ० १०.१८७.४)

– हे विश्व के अभिमुख होकर सम्यक प्रकार से विपश्यना करने वाले विपश्यी! हमें अतिशय रूप में द्वेष के पार कर दे!

जो विश्व के, यानी भीतरी विकारों के विशदीकरणीय स्वभाव के अभिमुख होकर विपश्यना करता है वह ऋत को, निसर्ग के नियमों को अनुभूति द्वारा जान लेता है। वह यह भी जान लेता है कि ऋत के नियम सब पर एक-जैसे लागू होते हैं। अन्य प्राणी भी वैसे ही हैं जैसे कि मैं हूं। अनुपश्यना करते हुए खूब समझ लेता है कि जिन कारणों से मैं सुखी-दुःखी होता हूं उनसे ही अन्य भी सुखी-दुःखी होते हैं। औरों को भी अपने सदृश जानने वाला विपश्यी स्वयं तो द्वेषमुक्त होता ही है, औरों को भी द्वेषमुक्त होने में सहायक हो जाता है। तभी लोग द्वेषमुक्त होने के लिए एक कुशल विपश्यी से प्रार्थना करते हैं।

विपश्यना का यह स्वाभाविक परिणाम स्वतः प्रकट होता है।

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं, ततो न वि चिकित्सति॥

-- *(यजु० ४०.६)*

– जब कोई व्यक्ति सभी प्राणियों को अपने सदृश देखता है तब सभी प्राणियों के प्रति उसका तादात्म्यभाव जागता है। जब अनुपश्यना द्वारा आत्मदर्शन, यानी स्वदर्शन, करता है तब सबके प्रति सहज रूप से आत्मीयता जागती है।

जब आत्मीयता जागती है तब पार्थक्य कहां टिक पाता है? जब विपश्यना-अनुपश्यना द्वारा **आत्मवत् सर्वभूतेषु** की समझ पुष्ट होती है, तब सबके प्रति स्वानुभूति, सहानुभूति और समवेदना स्वतः पुष्ट होने लगती है। मनुष्यमात्र के प्रति अपना दायित्व पुष्ट होने लगता है।

तब यह भाव सहज रूप से जागता है –

पुमान्पुमांसं परि पातु विश्वतः।

-- *(यजु० २९.५१)*

– मनुष्य का कर्तव्य है कि वह मनुष्यमात्र की सेवा, सहायता और रक्षा करे।

इससे विश्वबंधुत्व की भावना सुदृढ़ होती है। साधक समस्त पृथ्वी को अपनी जन्मदायिनी माता समझने लगता है।

हम देखते हैं कि इसी कारण प्रारंभिक वैदिक युग के ऋतधर्मा सत्यधर्मा ऋषियों के उद्गार कितने उदात्त हैं! कितने उत्कृष्ट हैं!

माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः।

-- *(अथर्व० १२.१.१२)*

– पृथ्वी मेरी माता है। मैं उसका पुत्र हूं।

इस धरती माता पर जो जन्मे हैं सभी उसके पुत्र हैं। अतः सभी मेरे सहोदर हैं, सगे भाई हैं। सभी वसुधापुत्र मानवों का यह कुनबा है, कुटुंब है। सब अपने हैं। कोई पराया नहीं है।

इसी प्रकार माता अदिति हम सबकी जननी है। हम सभी उसी जननी की कोख से जन्मे हैं। सभी सहोदर हैं, सगे भाई हैं। सभी अपने हैं। कोई पराया नहीं है।

ऋषि तभी कहता है–

प्र भ्रातृत्वं सुदानवोऽध द्विता समान्या। मातुर्गर्भे भरामहे॥

-- (ऋ० ८.८३.८)

– मातृगर्भ से ही हमें परस्पर भाईचारे का, सहोदरों का-सा भ्रातृत्वभाव मिला है। दूसरों के साथ मिल बाँटकर खाने का, साथ रहने का गुण हमें अपने जन्म से ही मिला है।

इस मंगलमयी समानता के मैत्रीपूर्ण भावों से भावित होकर वैदिक ऋषि सभी मनुष्यों को आह्वान करते हुए कहते हैं–

उद्‌बुध्यध्वं समनसः सखायः।

-- (ऋ० १०.१०१.१)

– मित्रो, सभी समान चित्त वाले होकर उठो!

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।

-- (ऋ० १०.१९१.२)

– सब लोग मिल कर साथ-साथ चलें। एक उद्देश्य से परस्पर मिलें। खुले हृदय और खुले मन से मिल कर बातें करें। सबके मन एक हों।

उत्कृष्ट आदर्श, निकृष्ट व्यवहार

ये देखी हमने वैदिक युग के मनस्वियों की हिमालय के सर्वोच्च शिखर जैसी उदार मानवी मूल्यों की उन्नत, उदात्त भावनाएं, कामनाएं एवं प्रार्थनाएं। परंतु समय बीतते-बीतते हर उत्कृष्ट आदर्श में न्यूनाधिक निकृष्टता आ ही जाती है। हमें चाहिए कि अंधविश्वास के बावलेपन में उत्कृष्ट और निकृष्ट दोनों को समान रूप से स्वीकार न करें। जो उत्कृष्ट है उसे ही आदरपूर्वक स्वीकार करें। जो स्पष्ट रूप से निकृष्ट है उसे त्यागें। भगवान बुद्ध ने यही किया।

हमने देखा कि प्रारंभिक युग की हिंसारहित पावन यज्ञ परंपरा कितने पुरातन काल में, यानी तथाकथित सत्ययुग में ही, अपनी गौरव-गरिमा खो बैठी और प्राणीवध की अधर्ममयी दुरवस्था में परिणत हो गयी। वैसे ही जब गुण, कर्म, स्वभाव पर आधारित निर्दोष चातुर्वर्णी व्यवस्था का सामाजिक जीवन की सुव्यवस्था के लिए सुगठन हुआ, तब उस युग के मनस्वी ऋषि ने अत्यंत धर्म-समन्वित प्रार्थना के उद्गार प्रकट किये –

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये॥

-- *(अथर्व० १९.६२.१)*

– हे प्रभु, तू मुझे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र – सभी का प्रिय बना दे।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र –सभी का प्रिय बन सकना तभी संभव होता जब कि उच्च वर्ण कहलाने वालों के हृदय में सबके प्रति प्रेम और मस्तिष्क में सुमति जागती। उनके मानस में निम्न वर्ण कहलाने वालों के प्रति द्वेष का नामोनिशान नहीं होता। उनके विरुद्ध मुँह से कड़वे बोल नहीं निकलते। उनके प्रति जीभ पर मधु घुला हुआ होता। अपने यहां की यह पुरातन मंगलभावना जीवन-व्यवहार में अवश्य उतर पायी होगी। लेकिन यह निष्पक्ष शोध का विषय है कि यह उन्नत मानवी भावना कब बिगड़ कर केवल जीवन का अनुकरणीय आदर्शमात्र बन कर रह गयी।

जिन गगनचुंबी उच्च आदर्शों का हमने ऊपर उल्लेख किया, उन्हें केवल अपनी आध्यात्मिक और सांस्कृतिक महानता का आत्मश्लाघाजन्य उद्घोषमात्र बना कर रह गये। यथार्थ की जमीनी हकीकत में उन महान उद्देश्यों का अभाव किसी भी देशप्रेमी और अध्यात्मप्रेमी के हृदय को कचोटता है।

जहां श्रीराम द्वारा शबरी के जूठे बेर खाने और निषादराज को गले लगाने जैसी घटनाएं हमारा सिर ऊंचा करने का काम करती हैं, वहीं शूद्र होते हुए भी उच्चवर्णियों की भांति तपस्या करने वाले शंबूक का सिर काटा जाना, हमारा सिर नीचा करता है। इसी प्रकार धनुर्विद्या में पारंगत हुए एकलव्य से गुरुदक्षिणा के रूप में अंगूठा कटवा लेना, महज इसलिए कि वह

क्षत्रिय नहीं है; इसी प्रकार सूत-पुत्र कह करके विचक्षण धनुर्धर महारथी कर्ण को अपमानित करना हमारे समानता के उच्च आसमानी आदर्श को धरती की सच्चाई पर धूल-धूसरित करता है। ऊंचे आदर्शों का यह शर्मनाक अध:पतन कब और कैसे आरंभ हुआ? यह हमारे यहां के अध्यात्म का चिंतनीय विषय है।

शूद्रों की दुर्दशा

एक ओर हम कहते रहें कि सभी पृथ्वी माता के पुत्र हैं, अदिति माता के पुत्र हैं, सहोदर हैं। विश्व के सारे मानव हमारे बंधु हैं। वसुधा पर रहने वाले सभी हमारे कुटुंब के सदस्य हैं। सभी समान हैं। दूसरी ओर जन्म-जाति के आधार पर, ऊंच-नीच का ऐसा अनैतिक, अमानुषिक भेदभाव! ऐसा भेदभाव जो वैदिक काल से लेकर आज तक अनवरत चला आ रहा है और हमारी विश्वबंधुत्व की भावना का लज्जाजनक उपहास कर रहा है। एक ओर हम द्वेष-मुक्त होने की और मैत्री-युक्त होने की अनगिनत प्रार्थनाएं करते रहे और दूसरी ओर कालांतर में वास्तविक जीवन द्वेष-युक्त और मैत्री-मुक्त बन गया। सहस्रों वर्षों की यह विडंबना हम सहन करते रहे और आज भी कर रहे हैं। आखिर ऐसा क्यों हुआ? कब से हुआ? यह अनुमान करना गलत नहीं होगा कि यह अध:पतन अत्यंत पुरातनकाल से ही आरंभ हो चुका था। वैसे ही जैसे कि यज्ञों की पावन गरिमा बहुत पूर्वकाल में ही अत्यंत कलुषित हो गयी थी।

भगवान बुद्ध के जीवनकाल में यह दुरवस्था रसातल तक पहुँच चुकी थी। हमने देखा, जात्यंध अंबष्ट ब्राह्मण भगवान के साथ दुर्व्यवहार करते हुए कैसे दुर्वचनों का प्रयोग करता है। ऐसे अपशब्द जैसे कि, "जो मथमुंडे श्रमण हैं, जो इब्भ हैं, यानी नीच हैं, जो काले हैं, जो ब्रह्मा के पैर से उपजे शूद्र हैं, वैसे ही आप हैं।"

कभी कोई कर्मकांडी ब्राह्मण उन्हें देखकर कहता है, "अरे मथमुंडे श्रमण, अरे चांडाल, दूर रह।" वह नहीं चाहता कि उसकी यज्ञ-शाला पर किसी चांडाल की छाया भी पड़े और वह अपवित्र हो जाय।

ऐसे किसी व्यक्ति का दीख पड़ना या उसकी छाया पड़ना तो दूर यदि वह ऐसे किसी आसन को देख ले जिस पर कोई नीच जाति का व्यक्ति कुछ देर बैठकर गया हो, तो उसको देखते ही मानस घोर जुगुप्सा से भर उठे, असीम घृणा से भर उठे। उस आसन को देखने मात्र को अत्यंत अमंगलकारी माना जाय। यदि कोई उस तथाकथित नीच जाति के महान व्यक्ति की प्रशंसा में दो शब्द भी कह दे तो यह असह्य हो जाय।

पूर्वकाल में एक घटना तो ऐसी घटी कि जब एक अहंकारी ब्राह्मण किसी चांडाल को इसलिए दुत्कारता है कि जो हवा का झोंका उसकी ओर से आ रहा है वह उस परम पवित्र द्विज को छू करके उसे अपवित्र कर रहा है।

अत्यंत उत्कृष्ट और उन्नत आर्य आदर्श का व्यावहारिक पक्ष कितना निकृष्ट और अवनत हो गया। ऐसा क्यों हुआ यह चिंतनीय विषय है। इसका प्रमुख कारण तो हमें वेद की इस ऋचा में ही दीख पड़ता है जिसमें कहा गया –

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥

-- *(यजु० ३१.११)*

– यानी, ब्राह्मण ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न हुआ, क्षत्रिय भुजा से, वैश्य जांघों से और शूद्र पैरों से। समानता और एकता की प्रेमभरी मैत्री के उज्ज्वल आदर्श से भरपूर अन्य ऋचाओं से इसका रंचमात्र भी ताल-मेल नहीं बैठता। अतः कह नहीं सकते कि यह वेदों के आदि काल की ऋचा है अथवा इसका समावेश बाद में हुआ। अवश्य बाद में ही हुआ होगा। अन्यथा इसके रहते **"सङ्गच्छध्वं"** का गीत कैसे गाया जाता?

इस ऋचा का एक अर्थ हमारे सामने यह भी आया कि, **"पुरुष सूक्त"** में समाज के विराट स्वरूप की पुरुषाकृति के रूप में कल्पना की गयी है। **पुरुष सूक्त** का यथार्थ भाव इतना उदात्त हो तो भी व्यवहार जगत में इसे सामान्यतया **अजायत** के अर्थ में ही लिया गया। इसी कारण बुद्ध के जीवनकालीन कई अहंकारी ब्राह्मण अपने आपको **ब्रह्मुना पुत्ता, मुखतो जाता**

पुत्ता, ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न मान कर गर्व प्रकट करते थे और शूद्रों को **पादापच्चा** यानी पांव से उत्पन्न मान कर उनके प्रति गर्हा प्रकट करते थे।

किसी समाज में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्गों के लोग हों तो इसमें कोई दोष नहीं है, बशर्ते कि यह विभाजन कर्म पर आधारित हो, जन्म और जाति पर नहीं। किसी भी मां की कोख से जन्मा हुआ व्यक्ति अपने गुण और कर्म के अनुसार ब्राह्मण भी हो सकता है, क्षत्रिय भी, वैश्य भी, और शूद्र भी। एक व्यक्ति अपने आप को किसी एक वर्ण से किसी दूसरे वर्ण में बदल भी सकता है। ऐसा तभी हो सकता है जब कि ये चारों वर्ण गुण और कर्म पर आधारित हों न कि जाति-जन्म पर। इस ऋचा की जातिवाचक व्याख्या ने और इसके तदनुकूल प्रयोग ने समाज का घोर अनर्थ किया। धर्म को अधर्म में परिणत किया। यह समाज का और देश का दुर्भाग्य साबित हुआ।

गुण और कर्म पर आधारित चातुर्वर्णी व्यवस्था सिद्धांत के रूप में भले स्वीकृत हुई हो लेकिन अधिकांश लोगों को व्यवहार के स्तर पर रंचमात्र भी स्वीकृत नहीं थी। व्यवहार के स्तर पर तो जन्म पर आधारित व्यवस्था ही प्रचलित रही। इस प्रचलन की पुष्टि के लिए उपरोक्त ऋचा का ही सहारा लिया जाता रहा, जो यह घोषणा करती है कि एक वर्ण सिर से उत्पन्न हुआ, अतः समाज में उसका जन्मसिद्ध स्थान सर्वश्रेष्ठ शीर्षस्थ मुकुट सदृश है। एक अन्य वर्ण पैरों से उपजा, अतः उसका जन्मसिद्ध स्थान निम्नतम पैरों की जूती जैसा है। अतः इन दोनों के प्रति लोगों का ऐसा ही व्यवहार होना चाहिए– पहले के प्रति पूज्य सत्कारभाव और दूसरे के प्रति घृणित दुत्कारभाव।

सहस्राधिक वर्षों पूर्व जब से वेद में उपरोक्त ऋचा का समावेश हुआ होगा, तब से आज तक हमारे व्यवहार जगत में यह अनैतिक, अन्यायपूर्ण, अधार्मिक प्रथा निर्बाध चलती आ रही है। यद्यपि समय-समय पर इसके विरुद्ध केवल मौखिक घोषणाएं कर करके दलित और उत्पीड़ित वर्ग का और साथ-साथ तथाकथित विरोधियों का मुँह बंद करने के सफल-असफल प्रयास भी होते रहे हैं।

उदाहरणार्थ, गीता में श्रीकृष्ण के यह बोल –

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।

-- *(गीता ४.१३)*

– यह जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चारों वर्णों का विभाजन है, वह गुण-कर्म के अनुसार मेरे द्वारा किया गया है।

यथार्थ की धरती पर यह गुण-कर्म का आधार कहीं देखने को नहीं मिला। सर्वत्र सर्वदा जाति-जन्म का आधार ही जड़ें जमाये रहा।

और यह भी कहा गया –

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः॥

-- *(गीता १८.४१)*

– हे अर्जुन! ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों तथा शूद्रों के स्वभाव से उत्पन्न गुणों के अनुसार उनके कर्मों का विभाजन किया गया है।

जब कि वास्तविकता सर्वदा यही रही है कि स्वभाव, गुण और कर्मों को कोई नहीं पूछता। विभाजन जन्म के आधार पर ही होता आया है और आज भी हो रहा है।

और यह भी कहा गया –

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

-- *(गीता ५.१८)*

– जो ज्ञानी पंडित है वह विद्याविनयसंपन्न ब्राह्मण, गौ, हाथी, श्वान तथा चांडाल में कोई भेद नहीं करता।

कहने को कुछ भी कहें लेकिन वस्तुस्थिति सर्वदा यही रही कि ब्राह्मण और चांडाल के बीच चिरकाल से विपुल भेदभाव रहता आया है और दिन के प्रकाश की भांति आज भी यही स्पष्ट दिख रहा है। सिद्धांत और व्यवहार का यह आकाश-पातालिक अंतर बेझिझक स्वीकार किया जाता रहा और आज भी किया जा रहा है! गुण, कर्म, स्वभाव पर संगठित सामाजिक

व्यवस्था कैसे जन्म-जाति पर आधारित कर दी गयी, यह सचमुच आश्चर्य का विषय है। निष्पक्ष शोध का विषय है।

गोमेध यज्ञ के लिए गो-हत्या करने के कारण जिस व्यक्ति का **कर्म** नितांत दूषित हो, जिसका मानस ब्रह्मा के मुख से जन्मने की मिथ्या मान्यता के अहंकारमय **दुर्गुण** से भरा हो, जो शूद्रों के प्रति द्वेष और घृणा के **स्वभाव** का जीवन जी रहा हो वह एक विशिष्ट जाति की मां की कोख से जन्मने मात्र के कारण पूज्य है। दूसरा व्यक्ति कितना ही शीलवान हो, धार्मिक हो, जितेंद्रिय हो फिर भी किसी अन्य जाति की मां की कोख से जन्मने मात्र के कारण श्रेष्ठ नहीं है – नीच है; पूज्य नहीं है – धिक्कारने और दुत्कारने योग्य है।

भगवान बुद्ध के जीवनकाल में ऊंच-नीच का यह अमानवीय भेदभाव अवश्य कुछ कम हुआ होगा क्योंकि तत्कालीन अनेक प्रमुख ब्राह्मणों ने बुद्ध की शिक्षा से प्रभावित होकर इसे बुरा माना और इस सच्चाई का प्रचार करने लगे कि न जन्म से कोई ब्राह्मण होता है, न जन्म से शूद्र। कर्म से ही ब्राह्मण होता है, और कर्म से ही शूद्र। भगवान के प्रमुख शिष्यों में लगभग पचास प्रतिशत ब्राह्मण कुल से सद्धर्म में प्रव्रजित हुए थे। उनमें से अनेक तात्कालिक समाज में अत्यंत प्रतिष्ठित एवं पूज्य थे जैसे कि भदंत कच्चायन (कात्यायन) जो कि प्रव्रज्या के पूर्व अवंती राज्य के राजपुरोहित थे और भगवान के संपर्क में आकर जातिगत भेदभाव के प्रचंड विरोधी हो गये।

जैसे भगवान बुद्ध की शिक्षा के कारण पशुबलियज्ञ कम होते होते आगे जाकर बिल्कुल बंद हो गये, वैसे ही जन्म पर आधारित चातुर्वर्णी व्यवस्था भी सम्राट अशोक के राज्यकाल तक पहुँचते-पहुँचते दुर्बल होती गयी, लेकिन दुर्भाग्य से आगे जाकर स्मृति और पौराणिक काल में पुनः प्रबल हो उठी। वेदव्यास के पिता ऋषि पराशर ने यहां तक कह दिया –

दुःशीलोपि द्विजः पूज्यो, न तु शूद्रो जितेन्द्रियः।

-- *(पराश० ८.३३)*

– ब्राह्मण दु:शील भी पूज्य है, चाहे कितना ही पतित क्यों न हो फिर भी श्रेष्ठ है, जबकि शूद्र जितेंद्रिय हो तो भी श्रेष्ठ नहीं है, हीन है।

अर्थात, ब्राह्मण की श्रेष्ठता कर्म के कारण नहीं है बल्कि जन्म के कारण है। इसी प्रकार शूद्र की नीचता कर्म के कारण नहीं है, जन्म के कारण है। अतः जन्म के मुकाबले धर्म तुच्छ हुआ। तराजू के जिस पलड़े पर जन्म की सच्चाई रखी गयी वह भारी साबित हुई, महत्त्वपूर्ण साबित हुई और दूसरे पलड़े पर धर्म की सच्चाई रखी गयी वह हल्की साबित हुई, महत्त्वहीन साबित हुई। जितेंद्रिय की तुलना में पतित की जीत हुई। धर्म के मुकाबले अधर्म की विजय हुई।

दुर्भाग्य से अपने कुछ धर्मग्रंथों ने इस अधर्म को प्रबल रूप से प्रचारित किया। हम देखते हैं कि मनुस्मृति ने इस धर्मविरोधी गलत मान्यता को कितना अधिक बल प्रदान किया। जब कहा कि अग्निदेव कभी अपवित्र नहीं होता चाहे वह यज्ञ की वेदी के लिए प्रज्वलित किया जाय अथवा श्मशान की चिता पर मुर्दे को जलाने के लिए प्रज्वलित किया जाय।

इसी प्रकार –

एवं यद्यप्यनिष्टेषु वर्तन्ते सर्वकर्मसु।
सर्वथा ब्राह्मणाः पूज्याः परमं दैवतं हि तत्॥

-- *(मनु० ९.३१९)*

– सभी प्रकार के बुरे कर्मों में प्रवृत्त रहते हुए भी ब्राह्मण सर्वथा पूज्य हैं, क्योंकि वे सर्वश्रेष्ठ देवता हैं।

यदि सचमुच ब्राह्मण है तो दुष्कर्म कैसे कर सकता है? और दुष्कर्म करता है तो ब्राह्मण कैसे हो सकता है? परंतु यह मिथ्या मान्यता चल पड़ी कि कोई भी दुष्कर्म ब्राह्मण को अपवित्र नहीं कर सकता। और शूद्र को कोई सत्कर्म पवित्र नहीं कर सकता। वह तो सदा सर्वथा अपवित्र है ही। अपवित्र भी ऐसा कि किसी पवित्र ब्राह्मण को छू दे तो उसे भी अपवित्र कर दे। जीवित ब्राह्मण को तो अपवित्र कर ही दे, प्रत्युत मरे हुए ब्राह्मण की लाश को भी छू दे तो वह मृत ब्राह्मण स्वर्ग न जा सके। उसके लिए स्वर्ग का दरवाजा बंद हो जाय –

न विप्रं स्वेषु तिष्ठत्सु मृतं शूद्रेण नाययेत्।
अस्वर्ग्या ह्याहुतिः सा स्याच्छूद्रसंस्पर्शदूषिता॥

-- *(मनु० ५.१०४)*

– स्वबांधवों के उपस्थित रहने पर मृत ब्राह्मण के शव को शूद्र के द्वारा बाहर न निकलवावे, क्योंकि वह निर्हरण (शूद्र के द्वारा शव का बाहर निकालना) स्वर्गप्राप्ति में बाधक होता है।

हमारी स्मृतियों द्वारा सिद्धांत के स्तर पर घोषित की गयी ऊंच-नीच की, छूत-अछूत की यह दूषित विचारधारा सहस्राब्दियों तक व्यवहार के स्तर पर समाज में प्रचलित होती रही। गोस्वामी तुलसीदासजी ने **रामचरित-मानस** में फिर इसी को मुखरित करते हुए कहा –

पूजिय विप्र शीलगुणहीना।
तदपि न शूद्र गुणज्ञान प्रवीणा॥

विप्र है तो कितना ही दुःशील और दुर्गुणी क्यों न हो फिर भी पूजनीय है। यह उसका जन्मसिद्ध अधिकार है। शूद्र है तो कितना ही गुण और शील में प्रवीण क्यों न हो फिर भी पूजे जाने का अधिकारी नहीं हो सकता, क्योंकि वह तो सदा सेवा के लिए ही नियुक्त है अतः गर्हाभरी प्रताड़ना पाने का ही अधिकारी है। तभी यह भी कहा –

ढोल गँवार शूद्र पशु नारी।
ये सब ताड़न के अधिकारी॥

इस घोषणा द्वारा गोस्वामीजी ने सदियों से चली आ रही जन्म-जाति पर आधारित वर्णव्यवस्था को दोहराया और पुष्ट किया, तथा इसके मुकाबले कर्म-प्रधान धर्म की महत्ता को बलहीन बनाया।

वास्तविकता के स्तर पर यह सामाजिक दुर्व्यवहार सदियों से निर्बाध चलता रहा। परंतु आश्चर्य है कि साथ-साथ सिद्धांत के स्तर पर कर्म-प्रधान धर्म का गुण भी गाया जाता रहा। स्वयं तुलसीदासजी ने भी कहा –

कर्म-प्रधान विश्व रचि राखा।

और यह भी कहा –

जो जस करइ, सो तस फल चाखा।

कर्म-सिद्धांत की दुहाई देकर हम यह दलील दें कि किसी व्यक्ति ने शूद्र के घर इसीलिए जन्म लिया क्योंकि उसने अपने पूर्वजन्म में कोई जघन्य दुष्कर्म किया था जिसका फल उसे अब भोगना पड़ रहा है। दूसरी ओर हमारे पास इसका कोई जवाब नहीं कि पूर्वकर्म के कारण दुःखद फल तो पाया लेकिन वर्तमान जीवन में अपना कर्म सुधार कर वह शूद्र से ब्राह्मण क्यों नहीं बन सकता? दलित से पूज्य क्यों नहीं बन सकता?

इसके उत्तर में वेद की ऋचा का भाव दोहराती हुई मनुस्मृति कहती है –

लोकानां तु विवृद्ध्यर्थं मुखबाहूरूपादतः।
ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं च निरवर्तयत्॥

-- (मनु० १.३१)

– ब्रह्मा ने लोक-वृद्धि के लिए अपने मुँह से ब्राह्मण, बाहु से क्षत्रिय, जंघा से वैश्य और चरण से शूद्र को उत्पन्न किया।

इसके आगे यह तर्कहीन दलील दी गयी कि –

यं तु कर्मणि यस्मिन् स न्ययुत प्रथमं प्रभुः।
स तदेव स्वयं भेजे सृज्यमानः पुनः पुनः॥

-- (मनु० १.२८)

– ईश्वर ने सृष्टि के आरंभ में जिस प्राणी को जिस कर्म में नियुक्त कर दिया, वह बार-बार जन्म लेकर अगले जन्मों में भी उन्हीं कर्मों को करने लगा।

इस एक ही श्लोक द्वारा कर्मसिद्धांत को मटियामेट कर दिया गया और अपने समाज को नास्तिकता की अनैतिक व्याख्या के बाड़े में बांध दिया। क्योंकि इस विधिविधान के अनुसार कोई शूद्र कितना भी जितेंद्रिय क्यों न हो जाय, गुण-ज्ञान से संपन्न क्यों न हो जाय, इस जन्म में ही नहीं, किसी भी जन्म में उसकी पदोन्नति नहीं हो सकती। वह सेवक से स्वामी नहीं बन सकता। न वह ब्राह्मण बन सकता है, न क्षत्रिय, न वैश्य। उसे

जन्म-जन्मांतर तक शूद्र के घर जन्म लेकर औरों की सेवा का काम ही करते रहना होगा।

इस विधान के तहत कोई भी सत्कर्म या दुष्कर्म किये जाने पर न किसी की उन्नति हो सकती है और न अवनति, क्योंकि किसी की भी उन्नति-अवनति कर्मों पर आधारित नहीं है। अच्छे-बुरे कर्मों का कोई महत्त्व नहीं है, क्योंकि सृष्टि के आरंभ में चातुर्वर्णों की रचना किसी के पूर्वजन्म के सत्कर्म या दुष्कर्म के फलस्वरूप नहीं की गयी थी। पूर्वकर्मों के आधार पर वर्ण और कर्म नहीं बांटे गये थे। अतः भविष्य में कभी भी कोई व्यक्ति उसके लिए निर्धारित वर्ण और निर्धारित कर्म को छोड़कर किसी अन्य वर्ण और कर्म में प्रवृत्त नहीं हो सकता। किसी ईश्वर की इच्छा के कारण मनुष्य जाति का जिन चार वर्णों के रूप में निर्माण हुआ और उनके लिए जिन-जिन कर्मों का विधान निश्चित कर दिया गया वह सृष्टि के सृजनकाल से लेकर प्रलयकाल तक सर्वथा अपरिवर्तनीय बना रहेगा, अटूट बना रहेगा। कर्म और तदनुकूल कर्म-फल का नैसर्गिक नियम इन पर लागू नहीं होगा। इनका ऊंच-नीच का पारस्परिक भेदभाव, इनकी स्पृश्यता-अस्पृश्यता सर्वदा ऐसी ही बनी रहेगी। क्योंकि सृष्टिकर्ता ईश्वर की यही इच्छा है।

यदि यह अमिट विधान है तो वेद की इस ऋचा का क्या महत्त्व रह जाता है जिसमें कहा गया कि हम सभी माता पृथ्वी की और माता अदिति की संतान हैं –

प्र भ्रातृत्वं सुदानवोऽध द्विता समान्या। मातुर्गर्भे भरामहे॥

-- *(ऋ० ८.८३.८)*

– हमें मातृगर्भ से ही परस्पर भाईचारे का, सहोदरों का-सा भ्रातृत्वभाव मिला है, दूसरों के साथ मिल-बांटकर खाने का, साथ रहने का गुण हमें अपने जन्म से ही मिला है।

और इसका भी क्या अर्थ रह जाता है कि मित्रों, सभी समान चित्त वाले होकर उठो। और इसका भी कि सब लोग मिलकर साथ-साथ चलें, एक उद्देश्य से परस्पर मिलें, खुले हृदय और खुले मन से मिलकर बातें करें। सबके मन एक हों।

अपने यहां भारत में श्रुति, स्मृति और पौराणिक वाङ्मय इस प्रकार के परस्पर-विरोधी वक्तव्यों से भरे पड़े हैं। सिद्धांत के स्तर पर आचरण, यानी सदाचरण, को धर्म मानने और व्यवहार के स्तर पर इसे जरा-भी महत्त्व नहीं दिये जाने का यह परस्पर-विरोधी और अनैतिक उदाहरण हमारे सामने है।

एक ओर मनुस्मृति कहती है –

आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त्त एव च।

-- *(मनु० १.१०८)*

– यानी, आचरण (सदाचरण) ही परम धर्म है। श्रुति और स्मृति भी यही कहती है।

दूसरी ओर व्यवहार इसके सर्वथा विपरीत है। एक व्यक्ति कितना ही सदाचारी क्यों न हो, उसे इस सदाचरण का कोई पुरस्कार नहीं मिल सकता। किसी हालत में वह देवलोकगामी नहीं हो सकता। (यथा – मनु० १.२८) उसके लिए यह नियत कर दिया गया है कि जब तक सृष्टि कायम है तब तक उसे हर जन्म में नितांत निम्न श्रेणी के मनुष्य का, शूद्र जीवन ही प्राप्त होगा और अपने से ऊंचे तीनों वर्णों की सेवा करते रहना ही उसका कर्म होगा, धर्म होगा।

इसी प्रकार एक व्यक्ति कितना ही दुराचार करे, उसके लिए अधोगति के द्वार बंद हैं। जब तक सृष्टि कायम है तब तक हर मृत्यु के बाद उसे सर्वोच्च श्रेणी का मनुष्य जीवन मिलना ही नियत है और जीवनभर निम्नतम वर्ण के व्यक्ति से सेवा लेना उसका अधिकार-प्राप्त धर्म है।

अतः न सदाचरण शुभफलदायक धर्म है, न दुराचरण दुःखफलदायक धर्म है। आचरण चाहे जैसा हो सृष्टि की रचना के समय जिस वर्ण के व्यक्ति के लिए जो कर्म नियत कर दिया गया जन्मजन्मांतरों तक पीढ़ी-दर-पीढ़ी इसका पालन करना ही उसका और उसकी संतति का अचल धर्म है।

इसी को लक्ष्य करके गीताकार ने इस विधि-विधान को बल प्रदान करते हुए कहा –

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः, परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः, परधर्मो भयावहः॥

-- *(गीता ३.३५)*

– अपना धर्म गुणहीन हो और दूसरे का गुणों में भलीभांति अनुष्ठित-प्रतिष्ठित हो तो भी दूसरे के धर्म से अपना धर्म ही श्रेष्ठ है। अतः अपने धर्म में मरना भी श्रेयस्कर है। दूसरे का धर्म भयावह होता है।

स्पष्टतया हम यही तो चाहते रहे कि शूद्र आदिकाल से नियत किये गये अपने सेवाधर्म में ही लगा रहे। कभी सेवक से स्वामी बनने का दुष्प्रयत्न न करे। ऐसा करना उसके लिए भयानक सिद्ध होगा। कहां समता की शोभनीय भावना! और कहां विषमता को स्थायी बनाये रखने का ऐसा अशोभनीय दुराग्रह!!

ऐसा ही अशोभनीय रहा है शूद्रों के प्रति हमारा दुविधापूर्ण दृष्टिकोण और लज्जाजनक व्यवहार!

बुद्धवाणी के अनुसार चातुर्वर्णी व्यवस्था का उद्गम

तथागत ने चातुर्वर्णी व्यवस्था के प्रारंभ होने का विवरण स्पष्ट शब्दों में समझाया। अत्यंत पुरातन काल में जब मानव समाज समूह में रहते हुए खेती के अन्न पर निर्वाह करने लगा तब समय बीतने पर कुछ उपद्रवी तत्त्वों के कारण सामाजिक व्यवस्था अस्तव्यस्त होने लगी। परिग्रह हुआ, चोरियां होने लगीं, परिणामस्वरूप तू-तू मैं-मैं होने लगा, गाली-गलौज होने लगा, मारपीट होने लगी। सामाजिक सुख-शांति बिगड़ती चली गयी।

क्षत्रिय का उद्गम

तब ऐसी अवस्था में समाज के लोगों ने मिलजुल कर किसी एक समझदार और बलवान व्यक्ति को चुना और उससे निवेदन किया कि वह सबके अमन-चैन के लिए उचित व्यवस्था करे, समाज का भली प्रकार से अनुशासन करे। इसके लिए लोगों ने उसे अपनी उपज का एक भाग 'कर' के रूप में देना निश्चित किया। क्षेत्र की व्यवस्था करता था इसलिए 'क्षेत्रिय' (क्षत्रिय या खत्तिय) कहलाया। बहुत लोगों द्वारा सम्मत होने के कारण 'महासम्मत' कहलाया। पड़ोसी देश में आज भी राष्ट्रपति 'सम्मत' कहलाता है। प्रजा का धर्मपूर्वक रंजन करने के कारण 'राजा' भी कहलाया।

ब्राह्मण का उद्गम

समाज के कुछ समझदार लोगों ने अकुशल पापधर्मों को सर्वथा त्याग दिया, छोड़ दिया, उन्हें बहा दिया इसलिए 'ब्राह्मण' कहलाने लगे। वे गृहस्थों से दूर रह कर, जंगल में पर्णकुटी बना कर रहते थे और वहां ध्यान करते थे। सुबह-शाम नगर या गांव में मधुकरी के लिए जाते थे। भिक्षा में जो मिले उसी से गुजारा करते थे। धीरे-धीरे इनमें से कुछ ने ध्यान करना बंद कर दिया। जो ध्यान करते थे वे 'ध्यायक' (झायक) कहलाते थे। जिन्होंने ध्यान

करना छोड़ दिया वे 'अध्यायक' (अज्झायक) कहलाये, आगे जाकर संभवतः 'अध्यापक' कहलाये जाने लगे।

वैश्य का उद्गम

पुरातन मानवी समाज में कुछ लोग ऐसे थे, जो गृहस्थ का जीवन जीते हुए, अपनी आजीविका के लिए नाना प्रकार के काम-धंधों में लगे हुए थे। विभिन्न कामकाजों को उन दिनों 'विसु' कहते थे। विसु कर्म में लगे हुए लोग 'वैश्य' कहलाये।

शूद्र का उद्गम

जो बाकी बचे वे लोग लुद्दाचार (शिकार इत्यादि हिंसक कार्य) में, यानी क्षुद्राचार में, लगे हुए थे। अतः क्षुद्र आचरण के कारण 'शूद्र' कहलाये जाने लगे।

गुण, कर्म, स्वभाव पर आधारित वर्ण-व्यवस्था

स्पष्ट है कि आरंभ में यह चातुर्वर्णी व्यवस्था जन्म पर आधारित नहीं थी, प्रत्युत गुण, कर्म, स्वभाव पर आधारित थी। परंतु समय बीतते-बीतते व्यवस्था बिगड़ी। जो व्यवस्था गुण, कर्म, स्वभाव और कार्य-विभाजन के आधार पर निर्मित हुई, वह अत्यंत स्पष्ट थी, स्वच्छ थी, स्वस्थ थी। परंतु शनैःशनैः जब जन्म पर आधारित हो गयी तब पुश्तैनी बन कर दूषित, अमांगलिक एवं अस्वस्थ होती चली गयी।

चारों वर्णों का अस्तित्व कर्म पर आधारित नहीं रहा, जन्म पर आधारित हो गया। समाज के मूर्द्धन्य सर्वगुणसंपन्न ब्राह्मण भी जब जन्मजात हो गये तब नाम के ब्राह्मण रह गये, दिखावे के ब्राह्मण रह गये, वस्तुतः ब्राह्मण नहीं रहे। बुद्धवाणी में वास्तविक ब्राह्मण होने के अनेक गुण गिनाये गये हैं।

सही ब्राह्मण वह है जो ज्ञानी है, ध्यानी है, स्थिर है, शांत है, मेधावी है; जो अकिंचन है, अपरिग्रही है, अनासक्त है, अनुत्सुक है; जो निष्कंप है, निष्कपट है, निच्छल है, निस्संग है; जो कृतकृत्य है, व्रतवान है, शीलवान है;

जो वीतराग है, वीतद्वेष है, वीतमोह है; जो रजरहित है, मलरहित है, क्लेशरहित है, क्रोधरहित है, तृष्णारहित है, आशारहित है, संशयरहित है, आसक्तिरहित है; जो सत्यवादी है, प्रियवादी है, अकर्कशवादी है, सार्थकवादी है; जो मान और म्रक्ष त्यागी है; जो मार्ग-अमार्ग का ज्ञाता है; जो गंभीर-प्रज्ञ है, पूर्ण-प्रज्ञ है, निर्वाण-प्राप्त है, भवबंधन-मुक्त है; जो अंतिम-देहधारी है; जो पुनर्जन्म से मुक्त है, भवसागर-पारंगत है; जो मन, वचन और काया से कोई दुष्कर्म नहीं करता; जो समथ और विपश्यना दोनों में दक्ष है; जो कमल के पत्ते पर जल और आरे के नोक पर सरसों की भांति कामभोगों से निर्लिप्त रहता है; जो सारे कर्म-संस्कारों का क्षय करके अमृत का साक्षात्कार कर चुका है; क्षीणाश्रव है, अरहंत है, बुद्ध है; वही सही ब्राह्मण है।

इसके अतिरिक्त तथागत ने यह भी कहा –

न जटाहि न गोत्तेन, न जच्चा होति ब्राह्मणो।
यम्हि सच्चञ्च धम्मो च, सो सुची सो च ब्राह्मणो॥

-- *(ध०प० ३९३, ब्राह्मणवग्गो)*

– न जटा धारण करने से, न गोत्र से, न जन्म से कोई ब्राह्मण होता है। जिसमें सत्य है, जिसमें धर्म है, वही पवित्र है, वही ब्राह्मण है।

अधःपतन

जब सत्य ही नहीं रहा, धर्म ही नहीं रहा, तब पवित्रता कहां रहती? सही माने में ब्राह्मण कहां रहते? त्याग, तपस्या, ध्यान और ब्रह्माचरण का जीवन छोड़ दिया तो ब्राह्मण का धर्म ही नहीं रहा, ब्राह्मणत्व नहीं रहा। फिर भी जन्म के कारण वे अपने आप को ब्राह्मण कहते रहे, जो सत्य नहीं था। इससे अधःपतन आरंभ हो गया। त्यागी, तपस्वी, अकिंचन और अपरिग्रही होने के कारण ही ब्राह्मण सारे समाज में मूर्द्धन्य थे, पूज्य थे।

उनके पतन से धर्म की शुद्धता का पतन हुआ। इससे सारे समाज का पतन हुआ। उनमें से कुछ ब्राह्मण जीवनयापन के लिए मंत्र रचने लगे, ग्रंथ लिखने लगे और उनके आधार पर पुरोहितगिरी करने लगे। इससे शुद्ध धर्म का ह्रास होने लगा। जब-जब धर्म पुरोहितों के हाथ में चला गया, तब-तब

धर्म धर्म नहीं रहा, व्यवसाय हो गया, आजीविका का साधन हो गया, धनार्जन का माध्यम बन गया और अपनी स्वच्छता खो कर दूषित हो गया। लोक-मंगलकारी होने के स्थान पर लोक-अमंगलकारी हो गया। बुद्धपूर्व के पुरातन भारत में यही हुआ। अपना पेट पालने के लिए इन पुरोहितों ने लोगों में अनेक प्रकार की मिथ्या मान्यताएं, अनेक प्रकार के अंधविश्वास फैलाये। लोग कर्मसिद्धांत पर आधारित सही धर्म धारण करना भूल गये। इन मिथ्या मान्यताओं पर आधारित कर्मकांडों में उलझ गये।

जन्म-जाति पर आधारित वर्ण-व्यवस्था का, जात-पांत का, ऊंच-नीच का यह सामाजिक दूषण केवल वैदिक परंपरा तक ही सीमित नहीं रहा। श्रमण परंपरा में भी समाहित हो गया। शाक्य और कोलिय अपने आप को सूर्यवंशी इक्ष्वाकुवंश के उच्चजातीय क्षत्रिय होने के अभिमानवश अपना सर्वनाश करवा बैठे।

धर्म की पुनर्स्थापना

उस दिन अधर्म दुर्बल होगा, धर्म का विकास होगा और उस दिन अपने देश और समाज का महाकल्याण होगा जिस दिन अपना सारा समाज या समाज के अधिकांश लोग इस सच्चाई को स्वीकारने लगेंगे कि कोई व्यक्ति किसी विशिष्ट मां के पेट से जन्म लेने के कारण ब्राह्मण कहलाने पर भी वस्तुतः ब्राह्मण नहीं होता। यदि उसमें ब्राह्मण्य के गुण हों तो ही वह सचमुच ब्राह्मण होता है, चाहे वह किसी मां के पेट से जन्मा हो। इसी प्रकार कोई व्यक्ति किसी भी मां के पेट से जन्मा हो, यदि उसके गुण, कर्म, स्वभाव क्षुद्र हैं तो वह शूद्र ही है। ऐसा नहीं हो तो यह शूद्र नहीं है। यूं ही कोई किसी रंग-रूप का, आकृति का व्यक्ति हो यदि उसमें आर्यत्व के गुण हैं तो ही वह वस्तुतः आर्य है, और इन गुणों के विपरीत दुर्गुण हैं तो वह अनार्य ही है।

भगवान बुद्ध ने धर्म के सत्य स्वरूप को पुनर्स्थापित करके बिगड़ी हुई सामाजिक स्थिति को सुधारने का कल्याणकारी प्रयत्न किया। चतुर्वर्ण के साथ-साथ आर्य-अनार्य का सही स्वरूप प्रकाशित किया।

समाज के सभी वर्गों के अनेक लोग भगवान के संपर्क में आये और अमांगलिक मिथ्या मार्ग से मुक्त होकर, सन्मार्ग को स्वीकार कर उन्होंने अपना कल्याण साध लिया।

देश के प्रमुख ब्राह्मण भगवान की विपश्यना विद्या से लाभान्वित हुए। उनमें से कुछ एक ऐसे भी हुए जिन्होंने पहली मुलाकात में भगवान के प्रति अनादर भाव दिखाया था और उनके प्रति अपशब्द कहे थे। भगवान की बतायी विपश्यना साधना का अभ्यास कर उन्होंने उस भवमुक्त अवस्था का अनुभव किया। तब अनायास उनके मुँह से ये उद्गार निकले– "मैं मुक्त हुआ, यह मेरा अंतिम जन्म था, अब पुनर्जन्म नहीं होगा।" इनमें से अनेक ऐसे भी हुए जो गांव-गांव, नगर-नगर चारिका करते हुए शुद्ध सनातन सत्य धर्म के व्यावहारिक पक्ष के प्रशिक्षण द्वारा लोगों का कल्याण करने में लग गये।

प्रमुख ब्राह्मण ही नहीं, देश का राजन्यवर्ग भी भगवान की विद्या से प्रभावित और लाभान्वित हुआ। इसी प्रकार वैश्यवर्ग और बहुत बड़ी संख्या में वह वर्ग जो तथाकथित उच्चवर्णियों द्वारा बहिष्कृत और तिरस्कृत था, उनमें से भी अनेक मुक्त अवस्था तक पहुँचे। इस प्रकार भगवान ने चातुर्वर्णी व्यवस्था के बिगड़े हुए अमंगलकारी स्वरूप को शुद्धता प्रदान की। तब यह व्यावहारिक स्तर पर स्पष्ट हुआ कि धर्म के क्षेत्र में जाति, गोत्र, वर्ण अथवा रूप-रंग का कोई महत्त्व नहीं होता। जो मुक्ति के मार्ग पर गंभीरतापूर्वक चले, वह मुक्ति के अंतिम लक्ष्य तक पहुँच ही जाता है। यह सच्चाई केवल उपदेशों द्वारा अथवा वाद-विवादों या तर्कों द्वारा सिद्ध नहीं की गयी बल्कि सक्रिय अभ्यास द्वारा लोगों ने देखा कि धर्म धारण किया जाय तो सब को समान फल मिलता है।

हर व्यक्ति ब्राह्मण बन सकता है

तथागत की करुणा समाज के चारों वर्णो के लोगों पर समान रूप से बरसती थी। ब्राह्मण और क्षत्रिय अपने को उच्च वर्ण वाले मान कर जात्यभिमान से भर उठे थे। दोनों में परस्पर एक दूसरे से उच्च होने की निरर्थक स्पर्धा भी चल रही थी। वैश्य केवल धन कमाने में ही मशगूल थे। शूद्र और अंत्यज सदियों से चली आ रही समाज की इस दूषित व्यवस्था के कारण अत्यंत हीनभाव से ग्रस्त हो चुके थे। वे कभी सोच भी नहीं सकते थे कि उनका उद्धार हो सकता है और वे यहीं इसी जीवन में सही माने में ब्राह्मण बन सकते हैं। तथागत ने अत्यंत करुण हृदय से चातुर्वर्णी शुद्धि करने का बीड़ा उठाया। उन्हें ऐसे समाज का गठन करना था जिसमें जन्म के अथवा वर्ण के कारण न कोई ऊंचा हो, न नीचा। ऐसा धर्म-समन्वित समाज हो जिसमें कर्म से ही कोई ऊंचा हो और कर्म से ही नीचा। जो आज कर्म से नीचा है, उसे भी पूरा-पूरा अधिकार और पूरा-पूरा अवकाश हो कि वह यहीं इसी जीवन में कर्म सुधार कर ऊंचा बन जाय, समाज में पूज्य बन जाय। इस प्रकार न किसी में मिथ्या अहंभाव जागे और न हीनभाव। पुरातन युग के ऐसे सर्वहितकारी शुद्ध, सद्धर्म को उन्हें पुनर्जीवित करना था। सारे समाज का पुनरुद्धार करना था और अपरिमित करुणाभरे चित्त से उन्होंने जीवनभर यही किया।

ब्राह्मण

अनेक ब्राह्मणों में यह मिथ्या गर्व समा गया था कि –

ब्राह्मणोव सेट्ठो वण्णो, हीनो अञ्ञो वण्णो।

– ब्राह्मण ही श्रेष्ठ वर्ण है, अन्य सभी वर्ण हीन हैं।

और वह इसलिए कि –

ब्राह्मणोव सुक्को वण्णो, कण्हो अञ्ञो वण्णो।

-- (म०नि० २.४०२, अस्सलायनसुत्तं)

– ब्राह्मण शुक्लवर्णी हैं, अन्य सभी कृष्णवर्णी हैं।

ब्रह्मा के औरस पुत्र

हम बुद्ध-वाणी में देखते हैं कि अनेक ब्राह्मणों की एक और मिथ्या मान्यता थी –

ब्राह्मणोव सुज्झन्ति, नो अब्राह्मणा।

– ब्राह्मण ही शुद्ध होते हैं, अब्राह्मण नहीं।

ब्राह्मणाव ब्रह्मुनो पुत्ता ओरसा, मुखतो जाता, ब्रह्मजा, ब्रह्मनिम्मिता, ब्रह्मदायादाति।

– ब्राह्मण ही ब्रह्मा के औरस पुत्र हैं, मुख से उत्पन्न, ब्रह्मा से जन्मे, ब्रह्मा द्वारा निर्मित, ब्रह्म-दायाद हैं, यानी ब्रह्मा के वारिस हैं।

इस मिथ्या-दृष्टि में भटकते हुए लोगों को भगवान ने युक्तिपूर्वक समझाया –

दिस्सन्ति खो पन, अस्सलायन, ब्राह्मणानं ब्राह्मणियो उतुनियोपि, गब्भिनियोपि, विजायमानापि, पायमानापि।

-- (म०नि० २.४०२, अस्सलायनसुत्तं)

– लेकिन, हे आश्वलायन, जब ब्राह्मणों की ब्राह्मणियां ऋतुमती भी होती हैं, गर्भिणी भी होती हैं, जनन भी करती हैं, दूध भी चुंघाती हैं, ऐसा प्रत्यक्ष देखा जाता है तब **ब्राह्मणियोनिजा,** यानी ब्राह्मणी माता की योनि से उत्पन्न होते हुए ब्राह्मण **ब्रह्मजा, ब्रह्मुनो मुखतो जाता** कैसे हुए भला?

पड़ोसी देशों में केवल दो ही वर्ण

भगवान ने आश्वलायन से प्रश्न करके उससे यह स्वीकार करवाया कि –

योनकम्बोजेसु, अञ्ञेसु च पच्चन्तिमेसु जनपदेसु द्वेव वण्णा।

– यवन और कंबोज तथा अन्य पड़ोसी देशों में केवल दो ही वर्ण हैं,

अय्यो चेव दासो च –

– स्वामी अथवा दास,

अय्यो हुत्वा दासो होति, दासो हुत्वा अय्यो होति।

-- *(म०नि० २.४०३, अस्सलायनसुत्तं)*

– (वहां) स्वामी होकर दास हो जाता है और दास होकर स्वामी हो जाता है।

तथाकथित सृष्टिसर्जक ब्रह्मा ने वहां के लिए भी ऐसा नियम क्यों नहीं बनाया कि स्वामी पीढ़ी-दर-पीढ़ी स्वामी ही बने रहेंगे और दास पीढ़ी-दर-पीढ़ी दास।

भगवान ने जन्म पर आधारित मिथ्या मान्यता के विपरीत कर्म के आधार पर ब्राह्मण बनाये।

अंगुलिमाल

वह कोशल-नरेश के पुरोहित भार्गव ब्राह्मण का पुत्र था। नाम था अहिंसक। गुरुकुल में पढ़ते हुए सहपाठियों के षड्यंत्र के कारण आचार्य के संदेह का पात्र बना। आचार्य ने उससे गुरु-दक्षिणा-स्वरूप मनुष्यों की एक हजार अंगुलियां मांगीं। परिणामतः वह हत्यारा बन गया। वन-प्रदेश में से गुजरते हुए यात्रियों की हत्या कर-करके गले में पहनी माला के सूत्र में उनकी एक-एक अंगुलि पिरोता गया। नौ सौ निन्यानवे अंगुलियां पूरी हो जाने पर अंतिम अंगुलि की खोज में अपनी मां की हत्या करने के लिए उद्यत हुआ। उसे मातृ-हत्या के दोष से बचाने के लिए महाकारुणिक भगवान स्वयं उसके पास पहुँचे। अंगुलिमाल ने भगवान की हत्या करनी चाही, पर कर न सका। उसने भगवान से बातचीत की। धर्म की वाणी सुन कर इतना प्रभावित हुआ कि अपने शस्त्र पहाड़ की कंदरा में फेंक कर भगवान की चरण-शरण ग्रहण कर धर्मानुपश्यी हुआ। भवमुक्त अरहंत हुआ। तब उसने ये उद्गार प्रकट किये –

ब्रह्मजच्चो पुरे आसिं, उदिच्चो उभतो अहु।

– माता-पिता दोनों की ओर से परिशुद्ध उदिच्च ब्राह्मण जाति में जन्मने के कारण पहले मैं केवल नाम के लिए ब्रह्म-पुत्र था।

सोज्ज पुत्तो सुगतस्स, धम्मराजस्स सत्थुनो॥

-- *(थेरगा० ८८९, अङ्गुलिमालत्थेरगाथा)*

– वही मैं आज सुगत धर्मराज शास्ता का पुत्र हूं।

धर्मराज का पुत्र हुआ, तो सही माने में ब्राह्मण हो गया।

'अहिंसको'ति मे नामं, हिंसकस्स पुरे सतो।

– (जैसे पहले केवल नाम के लिए ब्राह्मण था वैसे ही) केवल मेरा नाम अहिंसक था, पर मैं हिंसा में ही रत रहता था।

अज्जाहं सच्चनामोम्हि, न नं हिंसामि किञ्चनं।

-- *(थेरगा० ८७९, अङ्गुलिमालत्थेरगाथा)*

– आज मेरा नाम सार्थक हुआ, मैं सचमुच अहिंसक हुआ। अब मैं किसी की भी हत्या नहीं करता।

अंगणिक भारद्वाज

वह ब्राह्मण कुल में उत्पन्न उक्कट्ठानगर का निवासी था। कठोर तप करते हुए कठिन अग्नि परिचर्या करता था। वह भगवान के संपर्क में आया। उनसे धर्म पाकर विपश्यना-साधना द्वारा अरहंत अवस्था प्राप्त की। उसके हर्षभरे उद्गार देखें –

ब्रह्मबन्धु पुरे आसिं,

– पहले ब्रह्मबंधु था, यानी ब्रह्मा के कुल का सदस्य था।

इदानि खोम्हि ब्राह्मणो।

– अब मैं सही माने में ब्राह्मण हूं।

-- *(थेरगा० २२१, अङ्गणिकभारद्वाजत्थेरगाथा)*

अन्य वर्ण के लोग भी ब्राह्मण बने

भगवान की वाणी में शुद्ध धर्म की सच्चाई थी, अकाट्य युक्तियों का बल था और इनसे भी बढ़ कर कल्याणी करुणा की वर्षा थी, जो बड़े-से-बड़े विरोधी के भी हथियार गिरा देती थी; क्योंकि भगवान की कल्याणी करुणा उस विरोधी के प्रति ही प्रकट होती थी। भगवान की वाणी वाद-विवाद द्वारा किसी को नीचा दिखाने के लिए नहीं होती थी। वह भटके हुए लोगों के कल्याण के लिए होती थी। इस कल्याण-कामना का कोई क्या विरोध करता? इसी से प्रभावित होकर सोणदंड जैसे अनेक ब्राह्मण नेता भगवान बुद्ध के परम श्रद्धालु उपासक बन गये।

जो केवल नाम के ब्राह्मण थे उनमें से तो अनेकों को भगवान बुद्ध ने सही ब्राह्मण बनाया ही, उनके अतिरिक्त अनेक क्षत्रियों और वैश्यों को भी उसी उच्च अवस्था तक पहुँचाया। यही नहीं, चातुर्वर्णी व्यवस्था में जिन्हें शूद्र और अतिशूद्र माना जाता है, उनमें से भी अनेकों को अरहंत अवस्था तक पहुँचा कर सही माने में ब्राह्मण बनाया, पूज्य बनाया। उनमें से कुछ एक हैं, जैसे – दलित सोपाक, डोम सुप्पिय, चांडाल सोपाक, भंगी सुनीत, कुम्हार धनिय, धीवर यशोज, बढ़ई ऋषिदत्त और पुराण, नाटककार तालपुट, महावत हस्तिरोहक और उपालि नाई आदि।

नारियां भी ब्राह्मण बनीं

भगवान बुद्ध द्वारा वर्ण को इस परमोच्च अवस्था तक पहुँचाना केवल पुरुषों तक सीमित नहीं था। उन्होंने अनेक नारियों को भी अरहंत अवस्था तक पहुँचा कर सम्मानित बनाया। इनमें भी ब्राह्मणी महिलाओं, राजघराने की क्षत्रिय महिलाओं और वैश्य महिलाओं के अतिरिक्त तथाकथित दलितवर्ग की महिलाएं भी इस अवस्था को प्राप्त कर सौभाग्यशालिनी हुईं। जैसे गणिका पद्मावती, गणिका अड्ढकाशी, वेश्या विमला, छाता बनाने वाले की पत्नी सुमंगलमाता, सुनारपुत्री शुभा, पनिहारन पूर्णा आदि।

भगवान ने मुक्त अवस्था तक पहुँचने का जो मार्ग प्रशस्त किया वह सभी वर्ग और वर्ण के लोगों के लिए समान रूप से लाभदायी साबित हुआ। इससे यह सिद्ध हुआ कि जाति या वर्ण को लेकर मनुष्य-मनुष्य में कोई भेदभाव नहीं होता।

जो व्यक्ति सर्वहितकारिणी वाणी बोले, सर्वहितकारी कर्म करे, लोगों के लिए उसका अनुयायी बन जाना सहज स्वाभाविक था। भगवान नितांत निःस्वार्थ भाव से यही करते थे। धर्म की गाड़ी पटरी से उतर चुकी थी। अधिकांश लोग धर्म की चर्चा भले कर लें पर धारण करना छोड़ चुके थे, क्योंकि धारण कैसे करें, यही भूल चुके थे। जब धर्म धारण ही नहीं करते तब अपनी मिथ्या आत्म-तुष्टि के कारण धर्म के नाम पर किसी निस्सार छिलके को ही जोरों से पकड़ कर उसी में अपना कल्याण देखने लगते हैं। और यही हो रहा था। लोग परम पुनीत सनातन आर्यधर्म छोड़ कर अनार्य हुए जा रहे थे और अपना अमंगल कर रहे थे। विपुल लोकमंगल के लिए भगवान ने सत्य सनातन धर्म को पुनः प्रकाशित, प्रसारित और प्रतिष्ठापित किया।

आर्य-अनार्य

आर्य कहते हैं उच्चतम को, उत्कृष्ट को, श्रेष्ठ को!

अनार्य कहते हैं निम्नतम को, निकृष्ट को, नीच को।

आर्य कहते हैं सज्जन को, संत को, सदाचारी को।

अनार्य कहते हैं दुर्जन को, दुष्ट को, दुराचारी को।

आर्य कहते हैं शुभेच्छु को, यानी शुभ-कामना, कल्याण-कामना, मंगल-कामना करने वाले को।

अनार्य कहते हैं मलेच्छ (म्लेच्छ) को यानी मलिन-कामना, अशुभ-कामना, अमंगल-कामना करने वाले को।

आर्य कहते हैं आस्तिक को, जो कर्मबीज के अनुकूल कर्मफल प्राप्त होने के नैसर्गिक नियम के अस्तित्व को स्वीकारता है। अतः दुराचरण से बचता है।

अनार्य कहते हैं नास्तिक को, जो कर्मबीज के अनुकूल कर्मफल प्राप्त होने के नैसर्गिक नियम के अस्तित्व को नकारता है। अतः बेझिझक दुराचार में निमग्न रहता है।

अपने यहां के वैदिक साहित्य में 'आर्य' शब्द के कितने ही उत्कृष्ट अर्थ दिये गये हैं–

आर्य – (अर्तुं प्रकृतमाचरितुं योग्यः। अर्यते वा।)

पूज्यः। साधुः। सज्जनः। सत्कुलोद्भवः। श्रेष्ठः। संगतः। मान्यः। उदारचरितः। शान्तचित्तः। न्यायपथावलम्बी। प्रकृताचारशीलः। सततकर्तव्यकर्मानुष्ठाता। धार्मिकः। धर्मशीलः। स्वामी। बुद्धः। सुहृत्। श्रेष्ठवर्णः। म्लेच्छेतरजातिः। इत्यादि।

कर्तव्यमाचरन् काममकर्तव्यमनाचरन्।
तिष्ठति प्रकृताचारे स तु आर्य इति स्मृतः॥

-- *(हलायुध०)*

– इच्छा होने पर जो करणीय को करते हुए और अकरणीय को न करते हुए सृष्टि के विधान का अनुसरण करता है वह 'आर्य' कहलाता है।

स्पष्ट है कि उपरोक्त व्याख्या के अनुसार ये शब्द न जातिवाचक हैं, न नस्लवाचक, बल्कि गुणवाचक हैं। अपने यहां के प्राचीन वैदिक साहित्य में इन शब्दों का गुणवाचक अर्थ में प्रयोग हजारों वर्षों पहले तक किया जाता रहा।

ऋग्वेद का एक ऋषि हमें आह्वान करता हुआ कहता है–

'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्।'

– (आओ) सकल विश्व को आर्य बनायें।

-- *(ऋ० ९.६३.५)*

यानी, विश्वभर में जो-जो मानव दुर्जन हैं, अनार्य हैं उन्हें सज्जन बनायें, आर्य बनायें।

इस ऋचा का भाव स्पष्ट है, यानी जो भी मानव हो, चाहे गोरा हो, काला हो, भूरा हो, पीला हो और किसी भी मानवी मां के पेट से जन्मा हो, विश्व के किसी भी देश-प्रदेश में जन्मा हो, यदि वह अनार्य है तो उसे आर्य बनायें। यानी दुर्गुणी हो तो उसे सद्गुणी बनायें। दुराचारी हो तो उसे सदाचारी बनायें।

निःसंदेह कहीं भी, कभी भी, किसी भी मानवी मां के पेट से जन्मा व्यक्ति मानव ही होता है। यह नया जन्मा हुआ मानव अपने पूर्व कर्म-संस्कारों के कारण और वर्तमान परिवेश से प्रभावित नये कर्म-संस्कारों के कारण अनार्य भी हो सकता है, आर्य भी। यदि अनार्य हो तो उसे आर्यत्व का श्रेष्ठ प्रशिक्षण देकर आर्य बनाया जाय।

इस प्रकार उचित प्रशिक्षण द्वारा सकल विश्व के मानवों को आर्य बनाने का हमारा यह शिव-संकल्प था। ऐसे आर्य बनाने का संकल्प था जो कि –

'आर्या शुक्रा ऋतस्य धारया।'

-- *(ऋ० ९.६३.१४)*

– ऋत की धारा के अनुकूल जीते हुए शुक्र, शुक्ल, श्रेष्ठ हो जाय।

अनार्यों को आर्य बनाने की, दुर्जनों को सज्जन बनाने की, ऋत के प्रतिकूल जीवन जीने वाले म्लेच्छों को, नास्तिकों को शुभेच्छ और आस्तिक बनाने की प्राचीन आर्यों की यह योजना नितांत उदात्त और आदर्श थी। शोभनीय थी। सराहनीय थी।

परंतु समय बीतते-बीतते शुद्ध, नैसर्गिक धर्म की यह उदात्त भावना नष्ट होने लगी और उसके स्थान पर निम्नकोटि की विचारधारा पनपने लगी। लगता है यह तब होने लगा जब कुछ लोग जन्म के बल पर, रूप-रंग के बल पर अपने-आप को आर्य मानने लगे, औरों से श्रेष्ठ मानने लगे। जन्म-जाति के और रूप-रंग के गर्वीले आधार पर औरों को अनार्य कहकर, दास कहकर, दस्यु कहकर दुत्कारने लगे। इस कारण दोनों ओर से एक-दूसरे के प्रति स्पर्धा होने लगी, दुश्मनी होने लगी।

इसी कारण ऐसी ऋचाएं हमारे सामने आती हैं –

'विश्वाः स्पृध आर्येण दस्यून्।'

-- *(ऋ० २.११.१९)*

– आर्यों से स्पर्धा करने वाले सभी दस्युओं को जीतें। और

'यथावशं नयति दासमार्यः।'

-- *(ऋ० ५.३४.६)*

– आर्य दासों को अपने वश में करता है।

इतना ही नहीं प्रत्युत –

'हत्वी दस्यून् प्रार्यं वर्णमावत्।'

-- *(ऋ० ३.३४.९)*

– दस्युओं की हत्या करें और सवर्ण आर्यों की रक्षा करें।

कहां सारे विश्व को श्रेष्ठ आर्य बनाने वाली उत्कृष्ट मंगल-चेतना और कहां वर्णवादी आर्यों के प्रभुत्व को कायम रखने के लिए अनार्यों की हत्या तक करने की निकृष्ट अमंगल-भावना। ऐसी निकृष्ट भावनाओं को दूर करके जो उत्कृष्ट है उसे ही कायम रखना चाहिये। हमारे प्राचीन वेदों में उत्कृष्ट बनाने की कमी नहीं है।

एक समय था जब वैदिक ऋचाएं हमें सब के प्रति मंगलमैत्री की प्रेरणा देती थीं।

सखाय आ नि षीदत।

– हे मनुष्यो, तुम परस्पर सदैव मैत्रीभाव रखो।

-- *(ऋ० १.२२.८)*

तब ऐसी कल्याणकारी आदर्श भावनाओं से हमारा हृदय उर्मिल हो उठता था।

मा कस्य नो अररुषो धूर्तिः प्रणङ् मर्त्यस्य।

-- *(ऋ० ७.९४.८)*

– हम किसी दुष्ट मनुष्य का भी अनिष्ट-चिंतन न करें!

मो अहं द्विषते रधम्।

-- *(ऋ० १.५०.१३)*

– मुझसे जो व्यक्ति द्वेष करता है, उस पर भी मैं किसी प्रकार का प्रहार न करूं!

ये उदात्त भावनाएं हमारे मानस में ऐसा दृढ़ संकल्प जगाती थीं –

अद्या मुरीय यदि यातुधानो अस्मि। यदि वायुस्ततप पूरुषस्य॥

-- *(अथर्व० ८.४.१५)*

– मैं यदि किसी व्यक्ति को कष्ट दूं, किसी को पीड़ा पहुँचाऊं, या किसी के जीवन में आग लगाऊं, तो मैं आज ही (क्यों न) मर जाऊं!

कहां गयीं अपने उज्ज्वल अतीत की ये उदात्त उन्नत कल्याणी मानवी भावनाएं? हम निश्चित रूप से नहीं जानते कि इतना बड़ा परिवर्तन क्यों आया और कब आया? लेकिन अनुमान करना गलत नहीं होगा कि यह तब बिगड़ी जबकि **'गुणकर्मविभागशः'** वाली चातुर्वर्णी सामाजिक व्यवस्था जाति-जन्म पर आधारित होकर दूषित हो गयी, धर्मच्युत हो गयी, भारतीय समाज की सुख-शांति और सुरक्षा के लिए घातक सिद्ध हो गयी।

बुद्धवाणी में 'दास' के बारे में वर्णन मिलता है–

आमाय दासापि भवन्ति हेके, धनेन कीतापि भवन्ति दासा।
सामञ्च एके उपयन्ति दास्यं, भयापनुण्णापि भवन्ति दासाति॥

-- (महानि० १, कामसुत्तनिद्देसो)

– दासी के पेट से जन्म लेने के कारण कुछ लोग दास होते हैं, धन से खरीदे जाकर भी दास होते हैं। कुछ स्वयं ही दास हो जाते हैं और कुछ भय से मजबूर होकर भी दास हो जाते हैं।

'एते नरानं चतुरोव दासा।'

मनुष्यों में ये चार प्रकार के दास होते हैं।

महर्षि यास्क की निरुक्ति में दी गयी दास की व्याख्या कुछ इस प्रकार की है–

दासो दस्यतेः। उपदासयति कर्माणि॥

उपदासयति उपक्षाययति। कर्माणि कृष्यादीनि समापयतीत्यर्थः॥

अर्थात, 'दास' कर्मकर को कहते हैं जो कार्य का क्षय करता, यानी इन्हें निपटाता है (जैसे कृषि-कार्य इत्यादि)।

उपरोक्त चारों प्रकार के दास भी घर का काम-काज ही करते थे। अतः उन्हें कर्मकर कहा जाना ठीक ही है। परंतु अनार्यों के प्रति 'दास' और 'दस्यु' शब्द का प्रयोग उनके प्रति फैली हुई असीम घृणा का द्योतक है।

इसी प्रकार जातिवाचक हुआ 'आर्य' शब्द अहंकार का द्योतक बन गया।

आर्य शब्द दूषित हुआ

भारत ही नहीं, भारत के बाहर भी आर्य शब्द अपना गुण-धर्म वाला अर्थ खो बैठा और एक रेस (race), यानी नस्ल यानी जाति, के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा। जो गौर वर्ण के हों, जिनकी नाक लंबी हो, आँखें बड़ी-बड़ी हों और आँखों के कोए भूरे, नीले या हलके हरे रंग के हों, वे आर्य कहलाने लगे। जो लोग कृष्णवर्णी हों, जिनके सिर पर घुंघराले बाल हों, जिनके होंठ मोटे हों वे हब्शी, यानी नीग्रो (Negro), कहलाने लगे। जो पीत वर्ण के हों, जिनकी नाक चपटी हो, आंखें छोटी-छोटी चुंधियायी-चुंधियायी हों वे मंगोल कहलाने लगे। आर्य जाति के लोगो में सज्जन भी होते हैं और दुर्जन भी। ऐसे ही हब्शी और मंगोल जाति के लोगों में भी सज्जन भी होते हैं और दुर्जन भी। परंतु आर्य शब्द के मूल अर्थ श्रेष्ठ, उत्तम और सज्जन को नहीं भुला पाने के कारण, जाति के बल पर आर्य कहलाने वाले सभी लोगों में, औरों से श्रेष्ठ होने का गर्वीला भाव सर्वत्र सर्वदा बना रहा। हम देखते हैं कि आर्य जाति के कुछ लोग पश्चिमी यूरोप तक में भी अपने आपको शुद्ध आर्य मानने और अन्य लोगों से श्रेष्ठ मानने की गर्व-ग्रंथि से जकड़े रहे। इसका दुष्परिणाम पिछली सदी में नाजीवाद के अमानुषिक अत्याचारों के रूप में प्रकट हुआ, जिसके कारण अनार्य माने जाने वाले निरपराध लोग बड़ी संख्या में बेरहमी से मारे गये।

भारत में भी उच्च वर्ण के साथ-साथ आर्य वंश की गर्व-ग्रंथि के शिकार हो जाने के कारण धर्म के वास्तविक आधार को छोड़ दिया गया और ऊंच-नीच की मिथ्या मान्यता को बल दिया गया। इसके कारण जो अध:पतन हुआ, उससे देश और समाज की एकता खंडित हुई। धर्म का ह्रास हुआ, विनाश हुआ। धर्म की ग्लानि हुई, हानि हुई।

वैदिक साहित्य में इस प्रकार की परस्पर-विरोधी बातें हमें असमंजस में डाल देती हैं कि यह पतन क्यों हुआ, कैसे हुआ, कब हुआ? और इससे कैसे छुटकारा पाया जा सकता है?

हर व्यक्ति आर्य बन सकता है

अपने यहां की वैदिक परंपरा के मनस्वियों द्वारा अनार्यों को आर्य बनाने के आदर्श शिव-संकल्प को सभी बुद्ध विपश्यना विद्या के प्रशिक्षण द्वारा प्रत्यक्ष करना सिखाते रहे। भगवान बुद्ध ने भी यही किया। उनकी इस शिक्षा से यह सच्चाई लोगों के लिए स्पष्ट होने लगी कि अधोगति की ओर ले जाने वाले कर्म-संस्कारों का प्रजनन, संवर्धन और संचयन करने वाला व्यक्ति अनार्य ही होता है। वह चाहे जिस जाति, वर्ण, गोत्र और रंग-रूप का हो, चाहे जिस देश-विदेश का हो, वह आर्य अवस्था से दूर है, पृथक है। अतः पृथक-जन है, अनार्य है। पृथक-जन भी दो प्रकार के होते हैं। एक तो वे जो अंतर्मुखी होकर पूर्वसंचित दूषित कर्म-संस्कारों के संग्रह को उखाड़-उखाड़कर उनकी निर्जरा और क्षय करने के परिश्रम में रत रहते हैं। शील, समाधि, प्रज्ञा के प्रयोगात्मक पक्ष का यथाशक्ति अभ्यास करते रहते हैं। वे अभी आर्य नहीं हुए। अतः हैं तो अनार्य ही; हैं तो पृथक-जन ही, परंतु आर्य होने के कल्याण मार्ग पर आरूढ़ हैं; अतः 'कल्याण पृथक-जन' कहलाते हैं। दूसरे वे जो पुराने दुष्कर्मों के संग्रह को घटाने के स्थान पर उनका सतत संवर्धन करते रहते हैं। वे 'मूढ़ पृथक-जन' कहलाते हैं। वे ऐसे मूढ़ और गूढ़ अनार्य हैं जिनके लिए आर्य बनना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है। चाहे कोई मूढ़ पृथक-जन अनार्य हो अथवा कल्याण पृथक-जन अनार्य हो, भगवान ने सब के लिए मध्यमा प्रतिपदा का आर्यमार्ग प्रशस्त किया और उस पर चलने की विपश्यना विधि सिखायी।

जो इस विधि द्वारा गंभीरतापूर्वक समता का अभ्यास करते रहते हैं वे अधोगति की ओर ले जाने वाले चिरकाल से संचित अपने दुष्कर्मीय कुसंस्कारों का क्षय करते-करते अनित्यधर्मा शरीर और चित्त के क्षेत्र का अतिक्रमण करके पहली बार इंद्रियातीत नित्य, शाश्वत, ध्रुव निर्वाणिक सत्य का साक्षात्कार कर लेते हैं। तब अनार्य से आर्य बन जाते हैं। ऐसे आर्य हुए व्यक्ति के अधोगति की ओर ले जाने वाले सारे दूषित कर्म-संस्कार तो नष्ट हो ही गये, साथ-साथ इस प्रकार के नये कुसंस्कार बनाने का उसका

पूर्व-काल से चला आ रहा स्वभाव भी नष्ट हो जाता है। अतः अधोगति के जन्म से उसकी नितांत विमुक्ति हो जाती है। कोई अनार्यधर्मा कर्म कर ही नहीं सकता। वह व्यक्ति नितांत भव-मुक्ति के स्रोत में जुट जाता है, यानी स्रोतापन्न हो जाता है। ऐसे आर्य व्यक्ति को ऊर्ध्वलोक के अधिक-से-अधिक सात जन्म पूरे कर लेने पर नितांत भव-मुक्त अरहंत अवस्था प्राप्त हो जाती है। किसी को इसके पहले भी। ऐसा स्रोतापन्न हुआ आर्य व्यक्ति आत्म-निरीक्षण द्वारा शरीर और चित्त के प्रपंचों को समता के भाव से देखते रहने का अभ्यास कायम रखता है, तब उसके ऊर्ध्वगति के अधिकांश काम-लोकीय कर्म-संस्कारों की भी उदीर्णा होती है, उनकी निर्जरा होती है, उनका भी क्षय हो जाता है। तब वह सकदागामी अवस्था प्राप्त कर लेता है। ऐसा व्यक्ति मनुष्यों और देवों के कामलोक क्षेत्र में अब केवल एक ही बार जन्म लेता है, इसलिए सकदागामी (सकृदागामी, अर्थात एकदागामी) कहलाता है। साधक अपनी साधना में आगे प्रगति करता रहता है। निर्मलता के मार्ग पर और आगे बढ़ते हुए सभी शेष काम-लोकीय कर्म-संस्कारों की उदीर्णा, निर्जरा और क्षय कर लेने पर अनागामी अवस्था प्राप्त कर लेता है। इसका अर्थ हुआ कि अब वह काम-लोकीय क्षेत्र से भी मुक्त होकर केवल ब्रह्मलोक में ही जन्म लेगा। इसके नीचे के किसी लोक में नहीं जन्मेगा। इसीलिए अनागामी कहलाता है। यों साधना करते-करते बचे हुए सभी कर्म-संस्कारों का भी क्षय करके सर्वथा वीत-राग, वीत-द्वेष और वीत-मोह अवस्था को प्राप्त कर अरहंत हो जाता है। इस प्रकार आर्य-मार्ग की यात्रा पूरी करके सभी कर्म-संस्कारों का क्षय कर लेने के कारण जन्म-मरण के भव-संसरण से सदा के लिए विमुक्त हो जाता है। भगवान की विपश्यना शिक्षा के अनुभव द्वारा आर्यों की ये चारों अवस्थाएं – यानी, स्रोतापन्न, सकदागामी, अनागामी और अरहंत – अनेक लोगों ने उपलब्ध कीं। इस प्रकार, भगवान ने सभी अनार्यों को आर्य बनाने का धर्मपथ प्रशस्त किया, जो कि उस समय के तथा भविष्य के साधकों के लिए मुक्ति का कल्याणपथ साबित हुआ।

यों भगवान ने पुरातन आर्य धर्म की बिगड़ी हुई व्यवस्था को निसर्ग के नियमों के आधार पर, यानी ऋत के आधार पर, निर्दोष रूप में पुनः स्थापित किया। पुरातन ऋषियों की सारी आध्यात्मिक कामनाओं और

प्रार्थनाओं के फलीभूत होने का मार्ग खुला। पृथ्वी के सभी लोगों को अपने सगे भाईयों की भांति, वसुधा के सभी मानवों को अपने कुटुंब के सदस्यों की भांति स्वीकारने और उनके साथ तदनुकूल व्यवहार करने के लिए भगवान ने मैत्री, करुणा और सद्भावना का प्रयोगात्मक पक्ष उजागर किया। घृणा और द्वेष से छुटकारा पाने के लिए अब किसी से याचना या प्रार्थना करने की आवश्यकता नहीं रह गयी। अंतर्मुखी होकर, यथाभूत सत्य का दर्शन करते-करते इन विकारों के कारागृह से सहज मुक्त होने का द्वार खुल गया।

भगवान के बताये हुए आठ अंग वाले आर्यमार्ग[४] पर चलने वाला व्यक्ति निर्दोष पशु-पक्षियों की बलि चढ़ाकर स्वर्गगामी होने की मिथ्या मान्यता को कैसे स्वीकार करता भला! लोगों को यह सच्चाई स्पष्ट होने लगी कि अपनी अधोगति के संस्कारों से छुटकारा पाकर और ऊर्ध्वगति के संस्कारों का संवर्धन करके ही देवलोक या ब्रह्मलोक प्राप्त होता है। प्रार्थना और याचना द्वारा प्राप्त नहीं होता। और सारे कर्म-संस्कारों का समापन करके ही उनसे परे लोकोत्तर अवस्था प्राप्त होती है। भव-संसरण का सर्वथा निरोध होता है। इस प्रकार भारत के ही नहीं बल्कि संसार के जितने भी अनार्य हैं, उनको आर्य बनाने के लिए केवल उपदेश ही नहीं दिया, केवल शुभकामना ही प्रकट नहीं की, बल्कि आर्य बनने की वास्तविक वैज्ञानिक और आशुफलदायिनी विद्या देकर भगवान बुद्ध ने वैदिक ऋषियों के शिवसंकल्प को क्रियान्वित करने का ही काम किया। उन्होंने यह सिद्ध कर दिखाया कि विपश्यना के पुरुषार्थ द्वारा हर अनार्य व्यक्ति आर्य बन सकता है। इसके लिए यदि किसी ने उन्हें वेद-निंदक और नास्तिक कहकर लांछित किया तो इससे बड़ी भूल और क्या होती?

---

४ *आठ अंग वाला आर्यमार्ग –*

(क) 'शील' के अंतर्गत –
१. सम्यक वाणी, २. सम्यक कर्मांत, ३. सम्यक आजीविका

(ख) 'समाधि' के अंतर्गत –
४. सम्यक प्रयत्न, ५. सम्यक स्मृति, ६. सम्यक समाधि

(ग) 'प्रज्ञा' के अंतर्गत –
७. सम्यक संकल्प, ८. सम्यक दृष्टि

दो पुरातन संस्कृतियों का पारस्परिक आदान-प्रदान

अपने देश की दो पुरातन संस्कृतियां हैं। एक वैदिक और दूसरी श्रमणिक। श्रमण संस्कृति की दो धाराएं हैं, एक जिन धारा और दूसरी बुद्ध धारा, जिन्हें आगे जाकर जैन और बौद्ध कहा जाने लगा। यह दोनों श्रमण धाराएं वैदिक धारा जितनी ही पुरातन हैं, बल्कि कुछ विद्वानों के मतानुसार अधिक पुरातन हैं। जो भी हो, इतना तो निर्विवाद है कि जैन धारा भगवान महावीर से आरंभ नहीं हुई। उनके पहले भगवान ऋषभ देव तक अनेक तीर्थंकर हुए। ऋषभ देव भी आदि तीर्थंकर नहीं थे। उनके पहले भी अनेक तीर्थंकर हुए। इसी प्रकार, बुद्ध धारा भी भगवान गौतम बुद्ध से आरंभ नहीं हुई। भगवान दीपंकर से लेकर भगवान गौतम बुद्ध तक अनेक सम्यक संबुद्ध हुए। बल्कि सच तो यह है कि भगवान दीपंकर भी आदि सम्यक संबुद्ध नहीं थे। उनके पहले भी अनेक सम्यक संबुद्ध हुए। जो भी हो, भगवान ऋषभ तीर्थंकर और भगवान दीपंकर संबुद्ध का काल भी कम पुरातन नहीं है। अतः यह तो निर्विवाद है कि अपने देश में श्रमण और वैदिक परंपराएं सहस्राब्दियों से साथ-साथ चलती रही हैं। इसलिए निःसंदेह एक-दूसरे को प्रभावित भी करती रही हैं।

वैदिक परंपरा प्रभावित हुई

बुद्ध परंपरा की मूल गौतम-बुद्धवाणी तथा उससे संबंधित प्रयोगात्मक विपश्यना साधना लगभग दो हजार वर्षों पहले भारत से सर्वथा विलुप्त हो गयी थी। परंतु पड़ोसी देश बर्मा से अब भारत वापस लौटी है। सम्राट अशोक के समय प्राप्त हुई इस भारतीय धर्मसंपदा को वहां लगभग दो हजार वर्षों तक अपने मौलिक शुद्ध रूप में सुरक्षित रखा गया। उस मूल बुद्धवाणी के अध्ययन से हम जान पाते हैं कि भगवान गौतम बुद्ध की शिक्षा सभी पूर्व-बुद्धों की शिक्षा जैसी ही थी। तभी भगवान गौतम बुद्ध ने कहा –

एतं बुद्धानसासनं।

-- *(दी०नि० २.९०, महापदानसुत्तं)*

– सभी बुद्धों की यही शिक्षा है।

और यह भी कहा गया कि –

सब्बे बुद्धा समसमा।

– सभी बुद्ध परस्पर एक-समान होते हैं, जब कि अन्य लोगों से उनकी समानता नहीं होती। अन्यों से वे श्रेष्ठ होते हैं।

हम यह भी जान पाते हैं कि दो बुद्धों के बीच समय का बहुत बड़ा अंतराल होता है। जैसे भगवान गौतम बुद्ध के बहुत समय पहले भगवान काश्यप बुद्ध हुए थे। यह भी विदित होता है कि दो बुद्धों के बीच के लंबे अंतराल में पिछले बुद्ध की शिक्षा अपनी मूल रूप में कायम नहीं रहती, लेकिन उसके उपदेशों के अनेक शब्द समय के प्रवाह में बहते हुए चले आते हैं। परंतु उनका सही अर्थ बिल्कुल खो जाता है क्योंकि न पूर्व-बुद्ध की मूल वाणी का शुद्ध रूप में प्रयोग विद्यमान रहता है और न उनकी क्रियात्मक विपश्यना साधना।

भगवान गौतम बुद्ध के जीवनकाल की एक घटना –

किसी एक संप्रदाय का व्यक्ति भगवान से मिलने आया। उनका उपदेश सुना, जिसमें भगवान ने कहा –

आरोग्यपरमा लाभा, निब्बानं परमं सुखं।

-- *(म०नि० २.२१५, मागण्डियसुत्तं)*

आगंतुक प्रसन्न होकर कहने लगा, यह गाथा तो हमारी परंपरा में भी प्रचलित है। परंतु उसने जो अर्थ बताया वह सही नहीं था। काल-प्रवाह में शब्द तो छनते हुए चले आये लेकिन वास्तविक अर्थ विलुप्त हो गये।

गाथा का पुरातन अर्थ जो भगवान बुद्ध भी सिखाते थे वह इस प्रकार था – राग-द्वेष आदि मानसिक रोगों से मुक्त होने को परम लाभ कहा गया। केवल शारीरिक रोगों से मुक्त होने को लाभ भले कहें लेकिन परम लाभ नहीं कह सकते क्योंकि वह परम अवस्था तक नहीं पहुँचाता।

इसी प्रकार निब्बान का अर्थ मानसिक सुख होने लगा। जब कि सही अर्थ था, शरीर और चित्त के परे की नित्य, शाश्वत, ध्रुव अवस्था का परम सुख। इन शब्दों का सही अर्थ कोई कैसे समझता भला, जब कि दोनों परम अवस्थाओं का अनुभव कराने वाली विपश्यना विद्या ही सर्वथा लुप्त हो चुकी थी।

एक और उदाहरण –

वैदिक संस्कृति के अनुसार किसी देव और ब्रह्मा की कृपा से ही इहलोक और परलोक का सुख प्राप्त हो सकता है। इसीलिए इस निमित्त कामनाओं, याचनाओं एवं प्रार्थनाओं का तथा यज्ञ आदि कर्मकांडों का विधान है, जिनसे कि देव संतुष्ट-प्रसन्न होकर याचक की अभिलाषा पूरी कर दें। इस परंपरा के कारण अपने यहां वेदों में प्रार्थनाओं की भरमार है।

एक उदाहरण –

अतारिष्म तमसस्पारमस्य प्रति वां स्तोमो अश्विनावधायि।
एह यातं पथिभिर्देवयानैर्विद्यामेषं वृजनं जीरदानुम्॥

-- *(ऋ० १.१८३.६)*

– हे अश्विनीकुमारो! हम आपके कारण अंधकार से पार हो जायेंगे। यह स्तोत्र आपके लिए ही बनाया गया है। यज्ञरूपी देवमार्ग पर आ जाइये, जिससे हम अन्न, बल और दीर्घ आयु प्राप्त करें।

इसके विपरीत अपने यहां की श्रमण संस्कृति के अनुसार जो कुछ प्राप्त होता है वह किसी की कृपा या वरदान से नहीं, बल्कि स्वयं श्रम करने से प्राप्त होता है। इसीलिए यह संस्कृति श्रमण संस्कृति कहलाती है। भगवान गौतम बुद्ध ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि भव-विमुक्ति के लिए तुम्हें स्वयं परिश्रम, पुरुषार्थ करना होगा। बुद्ध तो केवल मार्ग आख्यात कर देंगे। तुम्हारे लिए कोई मार्गदाता हो सकता है, मुक्तिदाता नहीं। दोनों संस्कृतियों में यह आधारभूत अंतर है। बुद्ध की शिक्षा में किसी तारक ब्रह्म के लिए कोई स्थान नहीं है। अतः ब्रह्म की या किसी अन्य देव की **पत्थना**, यानी प्रार्थना, करना निरर्थक है। प्रत्येक प्रार्थना में कामनापूर्ति का राग समाया रहता है। अतः सर्वथा निषिद्ध है। जबकि वैदिक परंपरा में प्रार्थना प्रायः अनिवार्य है। फिर भी वैदिक परंपरा में कहीं-कहीं श्रमण परंपरा का प्रभाव कुछ सीमा तक लक्षित होता ही है।

वैदिक वाङ्मय में अधिकांश ऋचाएं प्रार्थना एवं याचना की ही हैं। फिर भी कुछ एक निजी श्रम से संबंधित ऋचाओं का भी समावेश है। उदाहरणस्वरूप –

वीरयध्वं प्र तरता सखायः।

– मित्रो, वीर बनो और पार हो जाओ!

-- *(अथर्व० १२.२.२६)*

यानी, पुरुषार्थी ही पार होते हैं।

न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः।

– तपस्वी (श्रान्त) व्यक्ति को छोड़ कर देवगण किसी के मित्र नहीं बनते। अर्थात, स्वयं परिश्रम किये बिना देव की, परमात्मा की मैत्री नहीं मिलती।

-- *(ऋ० ४.३३.११)*

राजपुरोहित असित देवल

दोनों परंपराओं में एक और मौलिक भेद था। श्रमणों में ज्योतिष के ग्रह-नक्षत्र, लग्न-मुहूर्त और शरीर-लक्षण देखकर भविष्य बताने की कोई परंपरा नहीं थी। भिक्षुओं के लिए यह कार्य सर्वथा वर्जित था। अतः इस काम के लिए श्रमणों द्वारा ब्राह्मण ज्योतिषों का उपयोग किया जाता था। इसी कारण श्रमण परंपरावादी शाक्य और कोलियों के यहां हम ब्राह्मण ज्योतिषियों की विद्यमानता देखते हैं। इसी कारण हम ब्राह्मण असित देवल (काल देवल) को उनके राजपुरोहित के रूप में देखते हैं। हम यह भी देखते हैं कि संगत के कारण इन ब्राह्मणों पर भी श्रमण परंपरा का गहरा प्रभाव था। बुद्धकाल के श्रमणों में सातों ध्यानों तक का प्रशिक्षण देने वाला श्रमण-आचार्य आलारकालाम था और आठवें ध्यान तक का प्रशिक्षण देनेवाला श्रमण-आचार्य उद्दक रामपुत्त था। ब्राह्मण राजपुरोहित असित देवल ने श्रमणों के आठों ध्यान तक की शिक्षा पायी थी। इसी कारण तत्कालीन श्रमण आचार्यों की भांति वह भी समझता था कि ये ध्यान-साधनाएं शरीर और चित्त के अथवा इंद्रिय जगत के अनित्यधर्मा क्षेत्र तक ही सीमित हैं। चित्त और शरीर के परे, इंद्रियातीत नित्य शाश्वत ध्रुव अवस्था तक पहुँचाने में असमर्थ हैं। जन्म-मरण के भवसंसरण से छुटकारा दिलाने में असमर्थ हैं। श्रमण संस्कृति की इंद्रियातीत अवस्था तक पहुँचाने वाली विपश्यना साधना पिछले बुद्ध से लेकर अब तक के दीर्घकाल में लुप्त हो चुकी थी और यह मान्यता थी कि जब फिर कोई व्यक्ति बुद्ध होगा तभी यह साधनाविधि प्रकाश में आयगी और लोगों के भवमुक्त हो सकने में सहायक बनेगी। यही कारण था कि राजपुरोहित असित देवल ने जब नवजात शिशु सिद्धार्थ गौतम के शरीर में बत्तीस महापुरुष लक्षण देखे तब तुरंत समझ गया कि यह बालक बुद्ध बनने वाला है। और बुद्ध बनेगा तो भवसंसरण से मुक्त हो सकने की विद्या खोज कर लोगों को बांटेगा। अतः उस शिशु को देख कर वह प्रसन्न भी हुआ और फिर रोया भी। प्रसन्न इसलिए कि विश्व में फिर एक ऐसा महापुरुष जन्मा है जो अनेकों की मुक्ति का कारण बनेगा। रोया इसलिए कि जब यह बालक बुद्ध बनेगा तब तक उसका अपना जीवन समाप्त हो चुका होगा और उससे वह मुक्ति की

विद्या नहीं सीख सकेगा। इसीलिए उसने अपने भांजे ब्राह्मण नालक को सूचना भेजी कि यह नवजात बालक जब बुद्ध बने तब वह इसकी शिष्यता ग्रहण कर मुक्ति की साधना अवश्य सीखे।

ब्राह्मण राजपुरोहित असित देवल पर श्रमण परंपरा का गहरा प्रभाव था। इसे स्पष्ट करते हुए उसके जीवन का एक प्रसंग हमारे सामने आता है जब कि वह श्रमणों के वस्त्र पहन कर सात तपस्वी ब्राह्मण युवकों को मिलता है और अपने-अपने माता-पिता की ओर से सात पीढ़ियों तक नितांत शुद्ध होने की उनके मिथ्या मान्यताजन्य अहंकार के लिए उन्हें फटकारता है।

ब्राह्मण ज्योतिषी

इसी प्रकार उन दिनों के ब्राह्मण ज्योतिषियों पर भी हम श्रमण परंपरा की मान्यता का गहरा प्रभाव देखते हैं। जब उन्होंने शिशु के देह पर महापुरुष के शरीर-लक्षण देखे तब कहा कि यह व्यक्ति गृही रहा तो चक्रवर्ती सम्राट बनेगा और गृहत्यागी हुआ तो सम्यक संबुद्ध बनेगा। उनमें से एक कौंडण्य नामक युवा ब्राह्मण ज्योतिषी ने कहा कि यह निश्चितरूप से सम्यक संबुद्ध ही बनेगा। इसी कारण बड़ा होकर जब राजकुमार सिद्धार्थ गौतम गृहत्यागी हुआ तब यह सुनकर ज्योतिषी कौंडण्य अन्य चार साथियों सहित उसकी खोज में निकल पड़ा और गया क्षेत्र में उससे संपर्क किया। ये पांचों ब्राह्मण इसी आशा में उसके साथ-साथ तपश्चर्या करते रहे कि जब यह सम्यक संबुद्ध बनेगा, तब इसके द्वारा खोजी हुई साधना सीख कर हम भी भवसंसरण से मुक्त हो सकेंगे। और यही हुआ। सिद्धार्थ गौतम के सम्यक संबुद्ध बनने पर उससे इन्हें विपश्यना की साधना मिली, जिससे वे भवविमुक्ति की अरहंत अवस्था को प्राप्त कर धन्य हुए।

ब्राह्मणी ज्योतिष विद्या में ही वह शरीर-लक्षण शास्त्र था जिसमें महापुरुष के बत्तीस शरीर-लक्षणों का वर्णन था। यह शरीर-लक्षण शास्त्र ब्राह्मण ज्योतिषियों में बहुत प्रचलित था और लगता है कि वह महापुरुष के शरीर-लक्षणों के साथ-साथ अन्य अनेक विवरणों से भी संपन्न था। हम

देखते हैं कि विदुषी ब्राह्मणी मागंदियामाता अपनी अनिंद्य सुंदरी पुत्री का विवाह बुद्ध से किया चाहती थी। भगवान जिस आसन पर बैठ कर गये थे, उसके उतराव-चढ़ाव को देख कर उसने जान लिया कि यह व्यक्ति कामभोग से सर्वथा निवृत्त हो चुका है और इस कारण हमारी पुत्री से कदापि विवाह नहीं करेगा और यही हुआ।

अन्य प्रमुख ब्राह्मण

हम देखते हैं कि बुद्ध के जीवनकाल में अनेक विद्वान ब्राह्मण यह सुन कर आश्चर्य-विभोर हो उठते थे कि यह व्यक्ति सम्यक संबुद्ध बन गया है। लेकिन उसकी परीक्षा करने के लिए अपने शास्त्र के अनुसार उसके शरीर के बत्तीस महापुरुष लक्षण जांचते थे और तभी विश्वस्त होते थे। हम देखते हैं कि उनमें का १२०-वर्षीय ब्रह्मायु नामक एक बूढ़ा ब्राह्मण राजपुरोहित तो केवल इतना ही नहीं, बल्कि और अधिक आश्वस्त होने के उद्देश्य से उसने अपने युवा शिष्य को कुछ महीनों तक उनके साथ यात्रा करते रहने का आदेश दिया, जिससे कि उनकी दिनचर्या देख कर यह विश्वास किया जा सके कि वे सचमुच सम्यक संबुद्ध बन गये हैं। इसी प्रकार कोशल के अवकाशप्राप्त राजपुरोहित गृहत्यागी बूढ़े ब्राह्मण बावरी ने गोदावरी के तट पर रहते हुए जब यह सुना कि संसार में कोई व्यक्ति सम्यक संबुद्ध बना है और वह इस समय श्रावस्ती में विहार कर रहा है तब उसने अपने सोलह शिष्यों को यह सच्चाई जांचने के लिए श्रावस्ती भेजा। जांच पूरी करके श्रद्धावान होकर उन्होंने भी बुद्ध की शिक्षा से अरहंत अवस्था प्राप्त की। यों हम देखते हैं कि उन दिनों की ब्राह्मणी परंपरा पर श्रमणी मान्यता का गहरा प्रभाव था। संभवतः इसी कारण श्रमण संस्कृति के अनेक ऊंचे आदर्श वैदिक संस्कृति में देखे जाते हैं। परंतु पुरोहितगिरी द्वारा चलाये गये अंधविश्वासों के कारण इनका आपसी तालमेल नहीं बैठता।

वैदिक परंपरा पर विपश्यना का प्रभाव

भगवद्गीता पर –

भगवद्गीता का पुनः गंभीरतापूर्वक अध्ययन करने पर देखा कि स्थितप्रज्ञता के विवरण पर विपश्यना का गहरा प्रभाव है।

बुद्धवाणी और भगवद्गीता – अरहंत और स्थितप्रज्ञ

भगवद्गीता और बुद्धवाणी में कौन पहले की है? कौन पीछे की? इस ऊहापोह में समय न गँवा कर दोनों की समानता और असमानता पर ध्यान देना अपेक्षित है। एक स्थितप्रज्ञ शब्द का प्रयोग करती है, दूसरी अरहंत शब्द का। वस्तुतः जो स्थितप्रज्ञ है वही अरहंत है। अरहंत है तो ही स्थितप्रज्ञ है।

अरहंत या अरिहंत वह है जिसने अपने सभी शत्रुओं का हनन कर दिया। मनोविकार ही व्यक्तिमात्र के शत्रु हैं। मनोविकारों में सबसे बलवान शत्रु है आस्रव। आस्रव अंतर्निहित आसक्तियों का वह फोड़ा है जो नासूर की भांति सतत प्रवहमान रहता है। वह कभी भरता नहीं, कभी सूखता नहीं। निरंतर रिसता हुआ दुःख सृजन करता रहता है। मानस के ऊपरी फोड़ों को क्षय कर लेना ही कठिन है। परंतु आस्रव के नासूर को क्षय कर लेना तो अत्यंत कठिन है। कोई भी साधक आस्रव को क्षय कर के ही अरहंत बनता है। यों अनास्रव हुआ अरहंत जन्म-मरण के भव-संसरण से सदा के लिए मुक्त हो जाता है। उसका यह जन्म अंतिम सिद्ध होता है। अब और जन्म नहीं होगा। पुनर्जन्म देने वाले सभी आस्रव-संस्कार ही नष्ट हो गये। अतः साधक स्वानुभूति से यह तथ्य जान लेता है कि –

अयं मे अन्तिमा जाति – यह मेरा अंतिम जन्म है।

नत्थिदानि पुनब्भवो – अब पुनर्जन्म नहीं होगा।

जब मरणोपरांत पुनर्जन्म नहीं होता तब उसकी यह मृत्यु भी अंतिम होती है। जब पुनर्जन्म ही नहीं होगा तब पुनर्मृत्यु कहां होगी? अरहंत को जन्म-मरण के संसरण-चक्र से सदा के लिए छुटकारा मिल जाता है।

यह भवमुक्त अवस्था तब प्राप्त होती है जबकि उसकी प्रज्ञा पूर्णतया प्रतिष्ठित हो जाती है, स्थिर हो जाती है, स्थित हो जाती है, अचल हो जाती है, अडिग हो जाती है। **तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।**

जैसे कि गीता में कहा गया--

(द्वितीयोऽध्यायः) अर्जुन उवाच :--

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम्॥२.५४॥

श्रीभगवानुवाच :--

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥२.५५॥

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥२.५६॥

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥२.५७॥

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥२.५८॥

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥२.५९॥

इसके अतिरिक्त गीता में जहां-जहां समत्वबुद्धि का उल्लेख आया है, वहां-वहां सक्रिय विपश्यना का प्रभाव स्पष्ट है।

गीता में श्रीकृष्ण ने अपने शब्दों में स्थितप्रज्ञता की परिभाषा की समुचित व्याख्या तो की, परंतु स्थितप्रज्ञता का आचरण जीवन में नहीं दर्शाया गया। महाभारत जैसे युद्ध के समय यह संभव भी नहीं था।

जब कोई व्यक्ति सचमुच अरहंत होता है तब उसके सारे कर्म प्रज्ञा में स्थित-स्थिर रह कर ही संपन्न होते हैं। बड़ा या छोटा, शरीर का या वाणी का या मन का कोई भी कर्म प्रज्ञाशून्य अवस्था में नहीं किया जा सकता। इसी माने में एक अरहंत स्थितप्रज्ञ कहलाता है, क्षीणास्रव कहलाता है।

पूर्णतया स्थितप्रज्ञ होने के लिए साधक जितना हो सके उतना संप्रज्ञान में रत रहते हुए सारे कार्य करने का प्रयत्न करता रहता है। भावित प्रज्ञा के बल पर यह अनुभव करता रहता है कि इंद्रियां और इनके विषय अनित्यधर्मा हैं, अतः दुःखधर्मा और अनात्मधर्मा हैं। यानी, ये ध्रुव नहीं हैं। इसलिए ये 'मैं' नहीं हैं, 'मेरे' नहीं हैं, 'मेरी आत्मा' नहीं हैं। इन्हें 'मैं' 'मेरा' मानकर राग-द्वेष जगाता है और दुःखी होता है। इन्हें ध्रुवधर्मा आत्मा मान लेने की गलती करता है। विपश्यना के पहले चरण में अनुभूतिजन्य प्रज्ञा जगा कर साधक यही देखता है कि भौतिक शरीर और मानस के चारों खंड वस्तुतः अनित्य हैं, दुःख हैं, अनात्म हैं। ऐंद्रिय विषयों के स्पर्श से उत्पन्न होने वाली संवेदनाएं भी अनित्य हैं, अनात्म हैं। इतना जान लेने पर साधक विपश्यना के दूसरे चरण में इन संवेदनाओं के प्रति राग या द्वेष के संस्कार न बना कर प्रज्ञामयी समता को पुष्ट करता है।

साधक कछुए की भांति अपनी इंद्रियों को अपने भीतर समेट लेता है।

दिट्ठे दिट्ठमत्तं भविस्सति – देखने में केवल देखना रह जाता है।

सुते सुतमत्तं भविस्सति – सुनने में केवल सुनना रह जाता है।

-- *(सं०नि० २.४.९५, मालुक्यपुत्तसुत्तं)*

इसी प्रकार अन्य इंद्रियां भी अपना-अपना काम करके रुक जाती हैं।

रुक जाती हैं, माने इसके पश्चात ऐंद्रिय विषय को पहचानने, उसका मूल्यांकन करने, उसके कारण हुई सुखद-दुःखद संवेदना का अनुभव करने और कर्मसंस्कारों को प्रजनन करने का सारा प्रपंच रुक जाता है। यानी, मानस के ये बाकी अंग भीतर सिमट कर रह जाते हैं। वैसे ही जैसे कछुआ

अपने अंगों को भीतर समेट कर निस्तब्ध रह जाता है। इस अवस्था के परिणामस्वरूप शरीर और चित्त के; इंद्रियों और ऐंद्रिय विषयों के निरुद्ध हो जाने से इंद्रियातीत नित्य, शाश्वत, ध्रुव, अनंत निर्वाणिक अवस्था प्रकट होती है।

इसे ही गीता ने भी इन्हीं शब्दों में व्यक्त किया –

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥

-- *(गीता २.५८)*

– इंद्रियां केवल ऐंद्रिय कार्यों के लिए हों। इसी काम तक सीमित रहें। आगे का सारा प्रपंच रोक लें, वैसे ही जैसे कछुआ अपने अंगों को भीतर समेट लेता है। तभी प्रज्ञा में प्रतिष्ठित माना जायगा।

अपने यहां गीता ने विपश्यना के ऐसे अनेक सैद्धांतिक पक्ष तो प्रकट किये, परंतु लोगों के लिए विपश्यना के क्रियात्मक अभ्यास का व्यावहारिक पक्ष अव्यक्त ही रह गया। जब कि अपने यहां बुद्धवाणी में विपश्यना के सैद्धांतिक और व्यावहारिक दोनों पक्षों का अत्यंत विशद विवरण के साथ वर्णन है। विपश्यना का अभ्यास करने वाला स्वानुभूति से जान लेता है कि केवल उपदेश को पढ़-सुन लेने से बात बनती नहीं। बात तभी बनती है जब उस उपदेश को जीवन में उतार लिया जाय, अर्थात उसे जीवन का अंग बना लिया जाय।

इसीलिए हम देखते हैं कि एक ओर जहां बुद्ध की शिक्षा को अपना कर एक-दो नहीं, हजारों की संख्या में लोग अरहंत अवस्था को प्राप्त कर सही माने में स्थितप्रज्ञ हुए, वहीं महाभारत और गीताकाल का कोई एक भी ऐसा उदाहरण सामने नहीं आता। क्योंकि बिना अभ्यास किये कोई स्थितप्रज्ञ कैसे हो?

पातंजल योगसूत्र पर –

इसी प्रकार जब पातंजल योगसूत्र का अध्ययन किया तब देखा कि इन सूत्रों पर भी अधिकांशतः विपश्यना छायी हुई है, यद्यपि विपश्यना की ऊंची अवस्थाओं का प्रभाव नजर नहीं आया। जब यह कहा गया कि –

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।

यह केवल ध्यानजन्य समाधि की ही अवस्था है जहां वितर्क-विचार न रहने के कारण चित्तवृत्तियों का निरोध होता है।

विपश्यना हमें उस अवस्था तक पहुँचाती है जहां चित्तवृत्ति का ही नहीं, बल्कि चित्त का भी निरोध होता है। वही अंतिम स्थिति है जहां नित्य, शाश्वत, ध्रुव, निर्वाणिक अवस्था प्रकट होती है।

चित्त-निरोध की अवस्था न प्राप्त होने के कारण ही संप्रज्ञात समाधि और असंप्रज्ञात समाधि का सही विवेचन नहीं हो पाया है।

लेकिन फिर भी पातंजल योगसूत्रों पर विपश्यना का बहुत व्यापक प्रभाव स्पष्ट है।

महर्षि पतंजलि पुष्यमित्र शुंग के राजपुरोहित थे जो कि सम्राट अशोक के शासनकाल के लगभग पचास (५०) वर्ष बाद मगध का सम्राट बना था। अशोक के समय लगभग सारे भारत में विपश्यना का बहुत प्रचार हो चुका था। अतः पतंजलि द्वारा प्रणीत योगसूत्र पर उसका प्रभाव होना स्वाभाविक था। आओ, देखें थोड़े से उदाहरण –

पातंजल योगसूत्र में कहा गया –

दुःखमेव सर्वं विवेकिनः॥

-- *(योग० २.१५)*

– विवेकशील के लिए इस संसार में मात्र दुःख ही है।

विपश्यना (बुद्धवाणी) कहती है –

सब्बे सङ्खारा दुक्खा'ति, यदा पञ्ञाय पस्सति।

-- *(थेरगा० ६७७, अञ्ञासिकोण्डञ्ञत्थेरगाथा)*

– जब प्रज्ञा से देखते हैं तब पाते हैं कि सभी संस्कार दुःख ही लाते हैं।

यं परे सुखतो आहु, तदरिया आहु दुक्खतो।

-- *(सु०नि० ७६७, द्वयतानुपस्सनासुत्तं)*

– बुद्ध ने यह भी प्रज्ञप्त किया है कि साधारण व्यक्ति जिसे 'सुख' की संज्ञा देते हैं, आर्यजन उसे 'दुःख' के नाम से पुकारते हैं।

यं किञ्चि वेदयितं तं दुक्खस्मिं।

-- *(म०नि० ३.२९९, महाकम्मविभङ्गसुत्तं)*

– यानी, केवल दुःख वेदना ही दुःख नहीं लाती, बल्कि सुख वेदना, प्रिय संवेदना एवं अदुक्खमसुख-वेदना (दुःख-सुख-रहित संवेदना) भी दुःख ही लाती है, क्योंकि ये संवेदनाएं भी अनित्य, नश्वर होती हैं। जब नष्ट होती हैं, तब दुःख प्रकट करती हैं। अनित्य होने के कारण इनमें दुःख अंतर्निहित है।

'अविद्या': 'प्रज्ञा' के विपरीत स्थिति –

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या।

-- *(योग० २.५)*

– योगसूत्र में 'अविद्या' की परिभाषा की गयी है – दोषपूर्ण संज्ञान के कारण 'अनित्य,' 'अशुचि,' 'दुःख' एवं 'अनात्म' में, क्रमशः, 'नित्य', 'शुचि', 'सुख' एवं 'आत्म' की अनुभूति करना।

विपश्यना (बुद्धवाणी) कहती है –

अनिच्चे निच्चसञ्ञिनो, दुक्खे च सुखसञ्ञिनो,
अनत्तनि च अत्ताति, असुभे सुभसञ्ञिनो॥

-- *(पटि०स० १.२३६, विपल्लासकथा)*

– यह परिभाषा बुद्ध की शिक्षा के अंतर्गत विवेचित 'पञ्ञा' (प्रज्ञा) शब्द के विविध पहलुओं की याद दिलाती है – 'अनिच्च,' 'अनत्त,' 'दुक्ख' तथा 'असुभ' (यानि अनित्य, अनात्म, दुःख और अशुचि में नित्य, सुख, आत्म और शुभ – शुचि – का भ्रामक ज्ञान होना।)

चार उन्नत अवस्थाएं –

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्।

-- *(योग० १.३३)*

– योगसूत्र में कहा गया है कि सुख, दुःख, पुण्य, अपुण्य के प्रति मैत्री, करुणा, मुदिता एवं उपेक्षाभाव भावित करने से मानसिक शांति मिलती है।

इन्हीं चार गुणों को बुद्ध की शिक्षा में **'अप्पमञ्ञ'** (अप्रमाण अवस्था) अथवा **'ब्रह्मविहार'** कहा गया है। इन अवस्थाओं के नाम भी उसी क्रम में हैं– 'मेत्ता', 'करुणा', 'मुदिता' तथा 'उपेक्खा'।

-- (विभ० ६४२)

योग के चार अंग –

'योग' (योगव्यूह) के चार अंग बतलाये गये हैं– दुःख, दुःख का कारण, दुःख का अवसान तथा दुःख के अवसान का उपाय। इन्हें क्रमानुसार पर्यायवाची शब्दों में व्यक्त किया गया है– 'हेय', 'हेयहेतु', 'हान' और 'हानोपाय'।

-- (योग० २.१६,१७,२५,२६)

यह विभाजन बुद्ध द्वारा प्रतिपादित चार आर्यसत्यों ('अरिय-सच्च') के अनुरूप है। आर्यसत्य हैं-- दुःख, दुःख का कारण, दुःख का अवसान और दुःख के अवसान हेतु आर्य अष्टांगिक मार्ग। इन्हें क्रमानुसार कहा गया है– 'दुक्ख', 'दुक्खसमुदय', 'दुक्खनिरोध' एवं 'दुक्खनिरोधगामिनी पटिपदा'।

-- (दी०नि० १.१५५, महापरिनिब्बानसुत्तं)

'संतोष' : परम सुख का अपूर्व स्रोत

सन्तोषादनुत्तमः सुखलाभः।

-- (योग० २.४२)

– योगसूत्र के अनुसार संतोष से परम सुख प्राप्त होता है।

सन्तुट्ठि परमं धनं।

-- (ध०प० २०४, सुखवग्गो)

– बुद्धवाणी के अनुसार 'संतोष' एक उत्कृष्ट संपदा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि योगसूत्र पर बुद्धवाणी और विपश्यना का स्पष्ट प्रभाव है।

बुद्ध परंपरा प्रभावित हुई

वर्षावास के चार महीने अनाथपिंडिक के जेतवन विहार में निवास करके भगवान बुद्ध भिक्षुसंघ के साथ धर्मचारिका के लिए अन्यत्र चले जाते थे। तब वहां सुनसान हो जाता था। भगवान के रहते, श्रद्धालु नागरिक भगवान के प्रवचन सुनने, भिक्षुओं से ध्यान-साधना सीखने झुंड-के-झुंड आते थे। अब उनका आना बिल्कुल बंद हो जाता। कोई इक्का-दुक्का, भूला-भटका भले आ जाता। अनाथपिंडिक को यह सूनापन बहुत अखरता था, जब वह देखता कि संप्रदायवादियों के आश्रमों में बारहों महीने एक-जैसी भीड़ लगी रहती थी। कुछ तो इस कारण कि उन आश्रमों के गुरु महाराज अधिकतर वहीं बने रहते थे। यदि कभी कुछ दिनों के लिए बाहर जाते तब भी अपने-अपने आश्रम में उन्होंने जो मंदिर बनवा रखे थे, उनमें पूजन-अर्चन के लिए उनके शिष्य नित्य आते ही रहते थे।

अनाथपिंडिक चाहता था कि ऐसा ही कुछ जेतवन में भी बने, जिससे यहां की चहल-पहल सतत बनी रहे। भगवान के सम्मुख ऐसा प्रस्ताव रखते हुए वह सकुचाता रहा। उसने भिक्षु आनंद के माध्यम से भगवान के सम्मुख अपनी इच्छा प्रकट करवाई।

भगवान कहां मानते? वे जानते थे कि उनके नाम पर मंदिर बनने लगेंगे तो विपश्यना साधना करने के स्थान पर लोग मंदिरों में नमन-वंदन, पूजन-अर्चन करके संतोष मानने लगेंगे।

भगवान विपश्यना सिखाते थे, नमन-वंदन, पूजन-अर्चन नहीं। वे बुद्ध-पूजन इसी प्रकार करना सिखाते थे–

इमाय धम्मानुधम्मपटिपत्तिया बुद्धं पूजेमि।

– शील, समाधि, प्रज्ञा के धर्म और अनुधर्म का प्रतिपादन करते हुए मैं बुद्ध की पूजा करता हूं।

अतः अनाथपिंडिक के प्रस्ताव को अस्वीकार करते हुए आनंद द्वारा उरुवेला (बोधगया) से बोधिवृक्ष का बीज मँगवा कर जेतवन में लगवाया और कहा कि श्रद्धालु लोग मंदिर के फेर में न पड़ें। यहां पर लगे बोधिवृक्ष के समीप बैठ कर विपश्यना साधना करें।

मंदिर – भगवान द्वारा मना किये जाने पर भी समय बीतते-बीतते स्थान-स्थान पर अनेक बुद्धमंदिर स्थापित हो गये। उन दिनों के बुद्धानुयायियों ने देखा कि अन्य परंपरा के मंदिरों में भक्तों की अपार भीड़ लगी रहती है तब हमारे यहां भी क्यों न हो?

मूर्ति – भगवान ने कभी अपनी मूर्ति नहीं बनने दी। सदियों तक भगवान बुद्ध की मूर्तियां न बन कर कोई चैत्य, बोधिवृक्ष, बोधिपत्र अथवा बुद्धासन जैसे प्रतीक ही बनाये जाते थे।

विपश्यना साधना में मूर्ति का कोई स्थान नहीं है, बल्कि वह ध्यान के लिए बाधक है। विपश्यना में साधक अपने शरीर और चित्त के प्रपंचों का अनुभव करते हुए, उनके द्वारा शरीर पर प्रकट होने वाली संवेदनाओं को तटस्थभाव से जानना सीखता है। किसी बाहरी आलंबन का ध्यान नहीं करता। विपश्यना के पुनर्जागरण के प्रारंभिक दिनों में पर्याप्त संख्या में विपश्यना केंद्र नहीं बने थे। जब कभी किसी बुद्धानुयायी देश में शिविर लगाने के लिए कोई उपयुक्त स्थान नहीं मिलता, तब किसी बुद्धमंदिर में शिविर लगाये जाते थे। मंदिर के पुजारियों को बुरा तो लगता, परंतु उन्हें समझा-बुझा कर मंदिर की मूर्ति के सामने पर्दा लगा कर, शिविर लगाया जाता था।

अनेक मूर्तियां – अन्य संप्रदायों के मंदिरों में अनेक देवी-देवताओं की मूर्तियां स्थापित की जाती थीं। अतः बुद्ध परंपरा के मंदिरों में भी अनेक देवी-देवताओं की मूर्तियां स्थापित की जाने लगीं।

यद्यपि बुद्धमूर्तियों के निर्माण से मूर्तिकारों को बहुत प्रोत्साहन मिला। तथापि इससे विपश्यना लुप्त होती चली गयी। वैसे भी आचार्यों के अभाव में विपश्यना विलुप्त होने ही लगी थी।

भजन-कीर्तन – जहां मंदिर बनने लगे, मूर्तियां स्थापित होने लगीं, वहां सामूहिक भजन और नाम-कीर्तन आदि होने लगे। भगवान निःशब्दप्रेमी थे। जहां कोलाहल होता वहां से वे दूर रहते थे। भगवान के जीवनकाल में ऐसी अनेक घटनाएं घटीं, जब वे किसी आश्रम के सामने से निकलते और वहां का आचार्य चाहता कि कुछ देर के लिए भगवान उसके आश्रम में पधारें, तब वह कोलाहल करने वाले अपने भक्तों से कहता कि हम सब को मौन हो जाना चाहिए ताकि भगवान हमारे आश्रम में पधारें। उनके मौन हो जाने पर ही भगवान उस आश्रम में प्रवेश करते।

मौन की साधना – विपश्यना मौन की साधना है। साधना करते हुए किसी शब्द का उच्चारण नहीं करना होता। वाणी से ही नहीं, बल्कि मन से भी नहीं करना होता। केवल यथाभूत को जानना होता है और अनुभूति के स्तर पर उसके अनित्य स्वभाव को समझते हुए समता पुष्ट करते रहना होता है।

एक घटना – राजवैद्य जीवक महाराजा अजातशत्रु को भगवान से मिलाने अपने आम्रवन ले गया। वहां भगवान १,२५० भिक्षुओं के साथ विपश्यना कर रहे थे। बिल्कुल मौन, निःशब्द। आम्रवन के समीप पहुँचा तो अजातशत्रु घबराया। कहीं उसके विरुद्ध कोई षड्यंत्र तो नहीं किया जा रहा है? १,२५० भिक्षु भगवान के समीप बैठे हैं और कोई खांसने-खंखारने तक की आवाज नहीं करता है।

ऐसे शांतिप्रेमी भगवान बुद्ध के नाम पर मंदिर बने और निःशब्दता के स्थान पर नाम-कीर्तन होने लगे, नगाड़े बजने लगे; तब अन्य कारणों के अतिरिक्त, इन कारणों से भी विपश्यना विलुप्त होती चली गयी। केवल भारत में ही नहीं, बल्कि अधिकांश बुद्धानुयायी देशों में भी यही हुआ।

प्रार्थना – जहां मंदिर बनेंगे और भगवान की तथा अन्यान्य देवी-देवताओं की मूर्तियां स्थापित होने लगेंगी, वहां भक्तों की भीड़ जमा होकर पूजन-अर्चन के साथ प्रार्थनाएं करने ही लगेगी। हर प्रार्थना में अनचाही को दूर करने की और मनचाही को उपलब्ध करने की कामना समायी रहती है। यानी द्वेष व राग समाया रहता है जो भगवान की शिक्षा

के विरुद्ध है। अतः भगवान ने इसका निषेध किया। परंतु जहां मंदिर बने वहां यही होने लगा।

बौद्ध धर्म – भगवान ने बौद्ध धर्म नहीं सिखाया। किसी को बौद्ध बना कर कोई संप्रदाय स्थापित नहीं किया। भगवान ने धर्म सिखाया, जो सब का है। भगवान ने लोगों को बौद्ध नहीं बनाया, बल्कि सदाचार का जीवन जीते हुए धार्मिक बनना सिखाया, जो सब हो सकते हैं।

जिस दिन से भगवान की शिक्षा को बौद्धधर्म कहने लगे, बुद्धानुयायी अपने आप को बौद्ध कहने लगे, उस दिन से भगवान बुद्ध का सिखाया हुआ सार्वजनीन धर्म एक संप्रदाय बन गया। धर्म का अवमूल्यन हो गया, अपमान हो गया। भगवान के सिखाये हुए **अप्पमाणो धम्मो,** असीम अपरिमित सार्वजनीन धर्म को संप्रदाय के बाड़े में बांध कर परिमित कर दिया गया, ससीम कर दिया गया।

ऊपर बताये गये जो प्रभाव हुए, उनसे बुद्ध की शिक्षा का पराभव हो गया।

पावन 'विपश्यना' के आधार पर बुद्ध की मूल शिक्षा का अब पुनः उत्थान होने लगा है। विश्व के हर संप्रदाय के लोग और उनके आचार्य इस शिक्षा को सार्वजनीन मान कर, इसमें बेझिझक सम्मिलित हो रहे हैं।

महाभिषक भगवान बुद्ध

भगवान बुद्ध अध्यात्म क्षेत्र के महाभिषक थे, महावैद्य थे, विचक्षण चिकित्सक थे। कुशल चिकित्सक का कर्तव्य होता है– रोगी के रोग को पहचाने, रोग का कारण जाने, कारण के निवारण का उपाय जाने और उस उपाय द्वारा कारण और रोग दोनों का निष्कासन कर दे।

कमोबेश सभी मानव मनोविकारों से ग्रसित हैं। अतः सभी रोगी हैं। राग, द्वेष, ईर्ष्या, मात्सर्य, अहंकार, ममकार, भय, वासना आदि विकारों से अपने मानस को व्याकुल बनाये रखते हैं। मन की ऊपरी-ऊपरी सतह पर से इन विकारों को दूर करने के अनेक उपाय हैं। उनकी कोई निंदा नहीं है। अपनी-अपनी दार्शनिक मान्यता और दृढ़ विश्वास के साथ अपने उपास्यदेव का नाम बार-बार दोहराने से मन के ऊपरी स्तर के अधिकांश विकार कुछ समय के लिए निस्संदेह दूर होते हैं। इससे कुछ तात्कालिक राहत भी मिलती है। परंतु अपने देश के इस महाभिषक ने देखा कि रोग को जड़ों से न उखाड़ा जाय तो चिकित्सा पूर्णतया सफल नहीं मानी जायगी। रोग पुनः बार-बार उभरेगा। अतः उसने भारत की सदियों से खोयी हुई उस पुरातन चिकित्सा-पद्धति को खोज निकाला जिसके अभ्यास से रोगी स्वयं अपने अंतर्मन की उन तलस्पर्शी गहराईयों तक पहुँचता है जहां इन विकारों का पूर्वसंचित भंडार संगृहीत है, जहां नये-नये विकारों के उद्गम द्वारा इस संग्रह का संवर्धन होता रहता है। इससे अंतर्मन में इन विकारों का स्वभाव पुष्ट होता रहता है।

यह दूषित स्वभाव जब-जब मानस के ऊपरी स्तर पर उभरता है तब-तब हम व्याकुल हो जाते हैं। इस स्वभाव के वशीभूत होकर वाणी और शरीर से दुष्कर्म कर देते हैं, जिनसे अन्य लोगों को भी दुःखी बना देते हैं। मन के इस दूषित स्वभाव से छुटकारा पाने के लिए ही अध्यात्म जगत के इस महान वैज्ञानिक ने, इस महान वैद्यराज ने विपश्यना की पुरातन विद्या खोज निकाली जो रोगी को अपने ही सत्प्रयत्नों द्वारा अंतर्मन में समाये हुए

विकारों की जड़ों का उत्खनन करना सिखाती है। इस साधना से उन जड़ों की उदीर्णा होने लगती है। उस समय साधक जब प्रज्ञा में स्थित रहते हुए समता बनाये रखता है तब उन उदीर्ण विकारों की निर्जरा कर लेता है, उनका क्षय कर लेता है। इस आध्यात्मिक मनोचिकित्सा द्वारा जितने-जितने विकारों की जड़ों का उन्मूलन कर लेता है, उतना-उतना दूषित स्वभाव का रोग दूर होता है। विकारों की सारी जड़ों का उन्मूलन कर ले तो पूर्णतया निरोगी हो जाय, पुनर्जन्म के रोग से सदा के लिए मुक्त हो जाय। अन्यथा जितना-जितना उत्खनन कर ले, उतना-उतना तो यहीं इसी जीवन में रोग-मुक्त हो ही जाता है।

इस सारी प्रक्रिया में रोगी देखता है कि किसी भी दार्शनिक मान्यता का कहीं कोई उपयोग नहीं है। सभी मान्यताएं अप्रासंगिक हैं। ऐसे परम मनोचिकित्सक भगवान बुद्ध से कोई आत्मा या परमात्मा के अस्तित्व का प्रश्न करता तो वे उसे अप्रासंगिक ही कहते, निरर्थक ही कहते।

हम इसी सच्चाई को एक सामान्य स्तर पर समझें। जब हमें कोई शारीरिक रोग हो जाता है और हम किसी चिकित्सक से इलाज कराने जाते हैं, तब क्या उससे पूछते हैं कि आप आत्मा और परमात्मा के अस्तित्व को स्वीकारते हैं या नहीं? रोग और चिकित्सा के संदर्भ में यह प्रश्न कितना बेतुका और अप्रासंगिक है, यह हम स्वयं बखूबी समझ सकते हैं।

ठीक इसी परिप्रेक्ष्य में हम इस महान भिषक से ऐसा कोई दार्शनिक प्रश्न करें तो उसे अप्रासंगिक ही कहा जायगा। हमें यह अवश्य देखना चाहिए कि इसकी चिकित्सा सुपरिणामदायक है या नहीं। यह निश्चित रूप से सुपरिणाम देती है और मानव-मात्र को देती है। बिना किसी जाति, वर्ण, गोत्र, रंग-रूप और संप्रदाय के भेदभाव का पक्षपात करते हुए सबको निरोगी बनाती है। रोगी के लिए यह स्वयं की श्रमसाध्य साधना है। चिकित्सक केवल चिकित्सा की विधि सिखा देता है। रोगी जितना श्रम करे उतना निरोगी बनता जाता है, विकार-विमुक्त बनता जाता है। इस चिकित्सा का प्रत्यक्ष परिणाम दो-अढ़ाई हजार वर्ष पहले भी भारत में उपलब्ध था। आज पुनः उपलब्ध हुआ है। इस स्थिति में हम अपने आप को इन अप्रासंगिक दार्शनिक विवादों में क्यों उलझाएं। उस महान चिकित्सक

को निंदा का पात्र बनाकर, उसकी सुफलदायिनी आध्यात्मिक चिकित्सा के लाभ से क्यों वंचित रहें? कोई यह मानें कि केवल आत्मा या परमात्मा के अस्तित्व को स्वीकार कर लेने मात्र से वीतराग हो सकता है, तो उसकी यह मान्यता उसे मुबारक हो। परंतु जिस वैद्य की चिकित्सा से यथाश्रम प्रत्यक्ष परिणाम आते हुए देखे जा रहे हैं, उसकी निंदा से तो बचें।

अपने ही एक महापुरुष की निंदा करने के लिए हमने विवाद तो बहुत किये, झगड़े भी बहुत किये, तोड़ने ही तोड़ने का काम किया। अब समय आया है, जोड़ने का काम करें। हमारे पुरातन महान देश की इंद्रधनुषी बहुरंगी सुंदरता फिर उभरे और देश की शोभा बढ़ाये, विश्व का कल्याण करे। हम अपनी सह-अस्तित्व की मंगलमयी सौम्यता को पुनः प्रतिष्ठित करें।

आखिर अपने ही वैदिक षट्दर्शनों में पूर्व-मीमांसा और सांख्य ने सृष्टिकर्ता ईश्वर के अस्तित्व को बिल्कुल नहीं स्वीकारा, फिर भी हमने उन्हें आस्तिक दर्शनों में स्थान देकर सम्मानित किया। कुछ एक ने ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकारा। परंतु उसे इतना महत्त्व नहीं दिया। कुछ ने ईश्वर को पूरा महत्त्व दिया। तिस पर हमने किसी का अपमान नहीं किया, निंदा नहीं की। जिन्होंने ईश्वर के अस्तित्व को नहीं माना तो उनकी आस्तिकता पर, या यों कहे, उनकी धार्मिकता पर कोई आंच नहीं आयी। महावीर स्वामी ने ईश्वर को नहीं स्वीकारा तो क्या कोई कह सकता है कि वे हमारे देश के सर्वोच्च धर्मपुरुषों में से एक नहीं थे? अपने यहां कितनी भिन्न-भिन्न दार्शनिक मान्यताएं चली आ रही हैं! कोई त्रैतवादी है जो आत्मा, परमात्मा और प्रकृति तीनों को स्वीकारता है। कोई द्वैतवादी है जो आत्मा और परमात्मा इन दो को स्वीकारता है। कोई अद्वैतवादी है, जो केवल एक को स्वीकारता है। अद्वैतवादियों में भी कोई शुद्धाद्वैतवादी, कोई विशिष्टाद्वैतवादी, तो कोई द्वैताद्वैतवादी है। इसी प्रकार कोई आत्मा और परमात्मा दोनों को ही न स्वीकारते हुए अद्वयवादी है। इन विविध मतवादियों में कितना पारस्परिक भेद-प्रभेद है!

आत्मा-वादियों में कोई जीव के शरीर जितनी बड़ी आत्मा को मानता है। कोई हृदय-क्षेत्र में अंगुष्ठ-प्रमाण आत्मा को मानता है। कोई तिल के

समान हृदय-ग्रंथि को आत्मा मानता है। कोई आत्मा को ईश्वर की छायामात्र ही मानता है। ईश्वरवादियों में भी भिन्न-भिन्न संप्रदायों के भिन्न-भिन्न पूजनीय ईश्वर हैं। किसी के लिए ऐसा सगुण साकार, जो विरोधी को दंडित करता है और मारता भी है, और जो प्रशंसा-प्रशस्तिभरी प्रार्थना करने वाले भक्त के अवगुणों की उपेक्षा करके उसे क्षमा कर देता है और मुक्त भी। किसी के लिए ईश्वर निर्गुण निराकार है, जो तटस्थ है। इसी प्रकार किसी के लिए धर्म, यानी ऋत के, निसर्ग के अटूट नियम ही निर्वैयक्तिक ईश्वर है। ऐसा ईश्वर जो सर्वशक्तिमान है, जिसकी हुकूमत सजीव-निर्जीव सब पर चलती है, जो सर्वव्यापी है, घटघटवासी है और अद्भुत न्यायकारी है। किसी के द्वारा अपने अंतर्मन में किया गया कोई भी पाप, कोई भी दुष्कर्म उस धर्मनियामतारूपी ईश्वर से अनजाना नहीं रह सकता। अपराधी को तत्काल दुःखद दंड मिलना आरंभ हो जाता है। यदि वह अपने आप को सुधारे नहीं तो अपने उस दुष्कर्म का संवर्धन करते-करते अंततः निकृष्टतम नारकीय दुःख का भागी बन जाता है। इसी प्रकार किसी के द्वारा अंतर्मन में किया गया कोई भी पुण्य, कोई भी सत्कर्म उस सर्वव्यापी ईश्वर से अनजाना नहीं रहता। पुण्यवान को तत्काल सुखद पुरस्कार मिलना आरंभ हो जाता है और यदि अज्ञानवश वह अपने आप को गलत रास्ते न ले जाय तो अपने सत्कर्मों का संवर्धन करते-करते अंततः मोक्ष का परम सुख प्राप्त कर लेता है।

अतः कोई किसी भी दार्शनिक मत-मतांतर को माने परंतु यदि वह विमल चित्त के शुद्धाचरण का जीवन जीता है, तो आस्तिक ही है, धार्मिक ही है, मुक्तिपथ पर आरूढ़ ही है। परंतु यदि समलचित्त के दुराचरण का जीवन जीता है तो नास्तिक ही है, अधार्मिक ही है, मुक्तिपथ से पृथक ही है।

वैदिक और श्रमण दोनों के अत्यंत पुरातन काल से आस्तिक और नास्तिक की व्याख्या यही रही है कि जो सदाचरण का पक्षधर है वह आस्तिक और जो दुराचरण का पक्षधर है वह नास्तिक। यह परिभाषा सहस्राब्दियों से चली आ रही है और जैसे हमने देखा, अमरकोश के आधुनिकतम टीकाकारों ने भी अठारहवीं शताब्दी के पहले तक इसी परिभाषा को स्वीकार किया है। परंतु समय-समय पर इसकी भिन्न-भिन्न

व्याख्याएं प्रचलित कर निरर्थक शंकाएं पैदा की गयीं। उनसे बचें। आत्मा और परमात्मा के अस्तित्व की मान्यता अथवा अमान्यता से इस मौलिक पुरातन परिभाषा का कोई तालमेल नहीं बैठता। आत्मा और परमात्मा के अस्तित्व को स्वीकारने वाला व्यक्ति यदि दुराचरण का पक्षधर है तो नास्तिक ही है और इसके अस्तित्व को नकारने वाला व्यक्ति यदि सदाचरण का पक्षधर है तो आस्तिक ही है।

सदाचरण ही भारत का सदैव सर्वमान्य धर्म रहा है। इसे ध्यान में रखते हुए, हमारे यहां किसी एक मत को मानने वाला दूसरे को महज द्वेषभाव से नास्तिक कहकर नहीं दुत्कारे। हम विग्रह का काम न करें, संग्रह का काम करें। तोड़ने का काम न करें, जोड़ने का काम करें।

आखिर अपने यहां कभी शैव और वैष्णव मतवादियों का कितना पारस्परिक विरोध-भाव रहा। दोनों में युद्ध तक हुए, खून-खराबा हुआ। परंतु समझदार लोगों ने उन्हें जोड़ने का काम किया।

शिव-द्रोही ममदास कहावे। सो नर सपनेहु मोहि न भावे।

अथवा

एक बार त्रेता युग मांही। शंभु गये कुंभज ऋषि पाहीं।
संग सती जगजननि भवानी। पूजेहु ऋषि अखिलेश्वर जानी।

-- *(रामचरित०)*

– इस प्रकार शंभु को अखिलेश्वर और भवानी को जगज्जननी कह कर समन्वय की भावनाओं का प्रचार-प्रसार कर-करके हमने झगड़ों को मिटाने का सफल प्रयास किया।

आज भारत में कितनी बड़ी संख्या में लोग बुद्धानुयायी हुए हैं। अच्छी बात है। परंतु जिस कटुता को लेकर हुए हैं यह अच्छी बात नहीं हुई। इस कटुता के मूल कारणों का उन्मूलन करें। पारस्परिक स्नेह-सौहार्द स्थापित करें। हमारे अनेक पड़ोसी देशवासी परम श्रद्धालु बुद्धानुयायी हैं। इनके अतिरिक्त विश्वभर में बुद्धानुयायियों की संख्या दिनोंदिन बढ़ती जा रही है। इस कारण भारत विश्वगुरु के स्थान पर पुनः सम्मानित हो रहा है। ऐसी अवस्था में पूर्वकाल में भगवान बुद्ध के प्रति मिथ्या लांछन लगाने वालों की

निंदा करना हमारा उद्देश्य नहीं है। आवश्यकता इसकी है कि हम उन गलत बातों का निरसन करें। उन्हें दूर करें। भगवान बुद्ध को स्वदेश में सम्मानपूर्वक पुनर्स्थापित करने के लिए किसी वकील की जरूरत नहीं है। जरूरत है उन्हें निराधार कलंकित करने के हमारे अपने ऐतिहासिक कलंक को धोने की।

बुद्ध को विष्णु का अवतार न मानने से बुद्धानुयायियों के घावों पर अवश्य मलहम लगी। इसी प्रकार श्री अशोक सिंहल जी द्वारा वर्तमान प्रचलित मनुस्मृति को नकारने के कारण सदियों से सताये गये दलित बंधुओं के घावों पर भी कुछ मलहम लगी। परंतु स्थाई प्रभाव तभी हो सकता है जबकि ये दोनों बातें लोक-प्रचलित की जायँ जिससे दलित बंधुओं के साथ आज भी जो अत्याचार हो रहा है वह बंद किया जा सके। इसी प्रकार देश की सामान्य जनता आज भी दशावतार की चर्चा करती है। एपिसोड बनाने वाली कुछ कंपनियों ने दशावतार की फिल्में भी बनाईं। उन्हें समझा-बुझा कर या डरा-धमका कर, उनके प्रदर्शन को रुकवाया गया। देश के समझदार लोग इन दोनों बातों पर ध्यान दें, जिससे पारस्परिक कटुता दूर होकर सांप्रदायिक सौहार्द कायम हो।

अभी पिछले दिनों अपने यहां के **आदरणीय शंकराचार्यों** ने और बीसों **महामंडलेश्वर** आदि धर्मगुरुओं ने इस प्रकार जोड़ने का एक महत्त्वपूर्ण समझौता किया। यह कल्याणी परंपरा आगे बढ़े और पारस्परिक सामंजस्यपूर्ण समन्वय से अपने देश का ही नहीं, सारे विश्व का भला हो! मंगल हो! कल्याण हो! सब की स्वस्ति हो! मुक्ति हो! यही कल्याणकामना है! यही मंगलभावना है!

प्रेस विज्ञप्ति

स्थल : महाबोधि कार्यालय, सारनाथ (वाराणसी) (उत्तर प्रदेश)

दोपहर : ३:३० बजे, दिनांक १२-११-१९९९.

जगद्गुरु कांची कामकोटि पीठ के श्रद्धेय शंकराचार्य श्री जयेन्द्र सरस्वतीजी और विपश्यनाचार्य गुरुजी श्री सत्यनारायण गोयन्काजी की सौहार्दपूर्ण वार्तालाप की संयुक्त विज्ञप्ति प्रकाशित की जा रही है। दोनों इस बात से सहमत हैं और चाहते हैं कि दोनों प्राचीन परंपराओं में अत्यंत स्नेहपूर्वक वातावरण स्थापित रहे। इसे लेकर जिन पड़ोसी देशों के बंधुओं में किसी कारण किसी प्रकार की गलतफहमी पैदा हुई हो, उसका शीघ्रातिशीघ्र निराकरण हो। इस संबंध में निम्न बातों पर सहमति हुई :-

१) किसी भी कारण से पूर्वकाल में पारस्परिक मतभेदों को लेकर जो भी साहित्य निर्माण हुआ, जिसमें भगवान बुद्ध को विष्णु का अवतार बता कर जो कुछ लिखा गया, वह पड़ोसी देश के बंधुओं को अप्रिय लगा, इसे हम समझते हैं। इसलिए दोनों समुदायों के पारस्परिक संबंधों को पुनः स्नेहपूर्वक बनाने के लिए हम निर्णय करते हैं कि भूतकाल में जो हुआ, उसे भुला कर अब हमें इस प्रकार की किसी मान्यता को बढ़ावा नहीं देना चाहिए।

२) पड़ोसी देशों में यह भ्रांति फैली कि भारत का हिंदू समुदाय बुद्धानुयायिओं पर अपना वर्चस्व स्थापित करने के लिए इन कार्यशालाओं का आयोजन कर रहा है। यह बात उनके मन से सदा के लिए निकल जाय, इसलिए हम यह प्रज्ञापित करते हैं वैदिक और बुद्ध-श्रमण की परंपरा भारत की अत्यंत प्राचीन मान्य परंपराओं में से हैं। दोनों का अपना-अपना गौरवपूर्ण स्वतंत्र अस्तित्व है। किसी एक परंपरा द्वारा अपने आपको ऊंचा और दूसरे को नीचा दिखाने का काम परस्पर द्वेष, वैमनस्य बढ़ाने का ही

कारण बनता है। इसलिए भविष्य में कभी ऐसा न हो। दोनों परंपराओं को समान आदर एवं गौरव का भाव दिया जाय।

३) सत्कर्म के द्वारा कोई भी व्यक्ति समाज में ऊंचा स्थान प्राप्त कर सकता है और दुष्कर्म के द्वारा पतित होता है। इसलिए हर व्यक्ति सत्कर्म करके तथा काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ, मात्सर्य, अहंकार इत्यादि अशुभ दुर्गुणों को निकाल कर अपने आप को समाज में उच्च स्थान पर स्थापित करके सुख-शांति का अनुभव कर सकता है।

उपर्युक्त तीनों बातों पर हम दोनों की पूर्ण सहमति है तथा हम चाहते हैं कि भारत के सभी समुदाय के लोग पारस्परिक मैत्री भाव रखें तथा पड़ोसी देश भी भारत के साथ पूर्ण मैत्री भाव रखें।

विपश्यनाः संक्षिप्त परिचय

श्री सत्यनारायण गोयन्काजी ने म्यंमा के महान विपश्यनाचार्य सयाजी ऊ बा खिन से सर्वप्रथम सन १९५५ में 'विपश्यना' साधना सीखी। तब से अभ्यास का क्रम जारी रहा। सन १९६९ में भारत आये। व्यापार-धंधे से सर्वथा अवकाश ग्रहण कर भारत के विभिन्न स्थानों पर इस साधना-विधि के दस-दिवसीय शिविर लगाते रहे। सन १९७६ में प्रमुख विपश्यना केंद्र 'धम्मगिरि' की स्थापना के पश्चात अब तक पूरे विश्व में लगभग १४२ विपश्यना केंद्र स्थापित हो चुके हैं। अन्य नये-नये स्थानों पर भी केंद्र खुलते जा रहे हैं। इनमें साधकों के लिए निःशुल्क आवास तथा भोजनादि की स्थायी व्यवस्था रहती है। विपश्यना सिखाने का सारा व्यय कृतज्ञ साधकों द्वारा स्वेच्छा से दिये गये दान पर निर्भर करता है। शिविरों का संचालन पूज्य गोयन्काजी तथा उनके द्वारा नियुक्त विश्व-भर के १,००० से अधिक सहायक आचार्यों द्वारा किया जाता है। शिविर-काल में साधक को बाह्य संपर्क से दूर, शिविर-स्थल पर ही रहना अनिवार्य होता है।

भगवान गौतम बुद्ध द्वारा पुनरन्वेषित 'विपश्यना' विद्या सर्वथा संप्रदायविहीन एक प्रयोग-प्रधान विधा है। इसका अभ्यास करते समय अपने भीतर की सच्चाई का दर्शन करते हुए अपने मन को निर्मल बनाने तथा अपने आप को ऋत, यानी निसर्ग, के नियमों के अनुरूप ढालने का काम किया जाता है। इसी को 'धर्म' कहते हैं। कालांतर में लोग इस शब्द का सही अर्थ भूल गये और 'संप्रदाय' को ही धर्म मानने लगे। आज जबकि धर्म के नाम पर चारों ओर इतनी अराजकता फैली हुई है, यह सांप्रदायिकताविहीन विद्या घोर अंधकार में प्रकाश-स्तंभ का काम देती है।

ध्यान की यह विद्या सीखने के लिए हर संप्रदाय के लोग आते हैं - नर हों या नारी। बाल, वृद्ध, युवा सभी उम्र के लोग आते हैं। बहुत ऊंची शिक्षा-प्राप्त व्यक्ति आते हैं और एकदम निरक्षर, अनपढ़ लोग भी। धनाढ्य भी आते हैं और दरिद्रनारायण भी। सरकारी वा गैर-सरकारी अधिकारी एवं

कर्मचारी तथा हर क्षेत्र के व्यवसायी एवं उद्योगपति आते हैं। यह कहने में अतिशयोक्ति नहीं होगी कि हर तबके के लोग आते हैं। किसी भी विपश्यना शिविर में समाज के हर वर्ग का यह अनूठा संगम बहुत विस्मयजनक होता है। इतनी विविधताओं के होते हुए भी सभी लोग इस विद्या से लाभान्वित होते हैं।

विपश्यना के सर्वहितकारी स्वरूप को देख कर जेलों तथा पुलिसकर्मियों के लिए भी शिविरों का आयोजन किया जाता है।

विपश्यना

बहुत लंबे अंतराल के बाद अब यह विपश्यना अपने यहां पुनः लौटी है। इसमें बताये हुए संपूर्ण पथ पर चलें तो स्थितप्रज्ञता के और भवमुक्त अरहंत अवस्था के एक-समान लक्षण जीवन में उतरने लगते हैं। अपनी-अपनी परंपराओं के केवल ग्रंथ पढ़ कर ही संतुष्ट न हो जायँ, बल्कि स्थितप्रज्ञ होने का सक्रिय अभ्यास करें। अन्यथा वास्तविक लाभ कैसे मिलेगा भला! केवल दार्शनिक और सांप्रदायिक विवादों में ही उलझे रह जायेंगे।

सब का मंगल हो!

सब का कल्याण हो!

सब की स्वस्ति-मुक्ति हो!

विपश्यना विशोधन विन्यास

आचार्य श्री सत्यनारायणजी गोयन्का एवं श्रीमती इलायचीदेवी गोयन्का

श्री सत्यनारायणजी गोयन्का का जन्म म्यंमा (बर्मा) के मांडले शहर में १९२४ में हुआ। १०वीं कक्षा में सारे बर्मा में सर्वप्रथम आने पर भी पारिवारिक कारणों से आगे की पढ़ाई न कर सके। उन्होंने कम उम्र में ही अनेक वाणिज्यिक और औद्योगिक संस्थानों की स्थापना की और खूब धन अर्जित किया। अनेक सामाजिक तथा सांस्कृतिक केंद्रों की स्थापना की। तनावों के कारण शिरोरोग (Migraine) के शिकार हुए, जिसका उपचार बर्मा के ही नहीं, बल्कि विश्व के प्रसिद्ध डॉक्टर भी न कर सके। तब किसी ने उन्हें 'विपश्यना' की ओर मोड़ा, जो आज उनके तथा अनेकों के कल्याण का कारण बन गयी है।

सयाजी ऊ बा खिन से श्री गोयन्काजी ने १९५५ में विपश्यना विद्या सीखी और चौदह वर्षों तक उनके चरणों में बैठ कर अभ्यास करने के साथ बुद्धवाणी का भी अध्ययन किया। १९६९ में वे भारत आये और मुंबई में पहला शिविर लगा। तत्पश्चात शिविरों का तांता लग गया। १९७६ में इगतपुरी में पहला निवासीय विपश्यना केंद्र बना और अब तक विश्वभर में लगभग १७२ केंद्र बन गये हैं तथा नित नये बनते जा रहे हैं, जहां प्रशिक्षित किये हुए लगभग १५०० विपश्यनाचार्यों के माध्यम से विश्व की ५९ भाषाओं में १०-दिवसीय शिविरों के अतिरिक्त, कई केंद्रों पर २०, ३०, ४५, ६० दिन के शिविर लगते हैं। सब का संचालन निःशुल्क होता है। भोजन, निवासादि का खर्च शिविर से लाभान्वित साधकों के स्वैच्छिक अनुदान से चलता है। इसके सर्वहितकारी स्वरूप को देख कर विश्व की अनेक जेलों और स्कूलों में ही नहीं, पुलिसकर्मियों, जजों, सरकारी अधिकारियों आदि के लिए भी शिविर लगाये जाते हैं।

ISBN 81-7414-296-7

VRI - H50